जैनेन्द्र की कहानियाँ

जैनेन्द्र-साहित्य [१२]

  Jainendra ke Kahaniya

जैनेन्द्र की कहानियाँ

[प्रथम भाग]

['फाँसी', 'ग़दर के बाद', 'जयसन्धि'
और अन्य कहानियाँ]

Puravday Parkashn
Delhi

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज, दिल्ली

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज, दिल्ली

प्रथम संस्करण
१९५३
1953

मूल्य
साढ़े तीन रुपए

पूर्वोदय प्रकाशन, ७ दरियागंज, दिल्ली की ओर से दिलीपकुमार द्वारा प्रकाशित और न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली में मुद्रित

प्रकाशक की ओर से

साहित्य में जैनेन्द्र का दृष्टिकोण दार्शनिक है। वह अपनी कला के माध्यम से जीवन के गर्भित सत्यों की ओर संकेत करते हैं। इसीलिए उनकी कहानियों में रोचकता के साथ-साथ एक ऐसी हृदयस्पर्शी मार्मिकता होती है जो पाठक को अपने अन्दर झाँकने पर मजबूर कर देती है।

प्रस्तुत कहानी-संग्रह में जैनेन्द्र की ग्यारह कहानियाँ संकलित है। 'फाँसी', 'ग़दर के बाद', और 'स्पर्द्धा',—कहानियाँ उनके प्रारम्भ के कहानी-संग्रह फाँसी में छपी थीं। उन दिनों इन कहानियों को पढ़कर भारत के अनेक युवक क्रान्तिकारियों को आत्मबल की प्रेरणा प्राप्त हुई थी और इन का जेलों में पारायण होता था। इन तीन कहानियों के अतिरिक्त जो दूसरी कहानियाँ इस संग्रह में हैं, वे भी इन्ही क्रान्तिकारी कहानियों के सिलसिले की ही कड़ियाँ हैं।

सन १९३३ में 'फाँसी' संग्रह की भूमिका में लेखक ने जो विचार प्रगट किए थे, वे आज भी उतने ही ताजे हैं।

"दिन बेकाम नहीं आते, बेकाम नहीं जाते, कुछ कर ही जाते हैं। उस काम को एक अच्छा कह देगा, दूसरा बुरा कह सकेगा। यह सब देखने का प्रश्न है। भविष्य की ओर जो देखते हैं, उनके निकट वर्त्तमान का कार्य विधायक है। अतीत की ओर देखते रहने से वही वर्त्तमान अतीत का जूठन लगने लगता है। सही यह है, कि अतीत और भविष्य दो नहीं; किन्तु दो न मानें, तो हमारी बुद्धि के सामने से जीवन का अर्थ ही लुप्त हो जाय। वर्त्तमान खो जाय और हम जी न सकें। काल हमारी बुद्धि का परिमाण है। हम समग्र नहीं देख सकते, उसे खण्डित करके देखते हैं; क्योंकि हम

खण्ड हैं। इसीसे बालक देखता है, दिन आदमी को बुड्ढा कर देते हैं और वृद्ध मानता है, दिन पाने से आदमी पकता है। दोनों ठीक हैं। बालक सपनों में जीता है, वृद्ध स्मृति में जीता है; पर दिन अपना काम दोनों से अधिक जानते हैं। वह जनमाते भी हैं और पका-बुढ़ा कर समाप्त भी करते हैं। उत्पत्ति-समाप्ति के समन्वय में से उनका काम बनता है। उस काम की आलोचना, बड़े लोग करें, मुझे ख़तरनाक लगती है। ख़तरे से ख़ाली यह कह देना है, कि दिन अन्तर डाल जाते हैं।

ये कहानियाँ जहाँ हैं, उनमें कई बरस के अन्तर पर मैं आज हूँ। इन बरसों के दिनों ने मुझ में अन्तर किया है। कह लीजिए, मैं अशक्त होने लग रहा हूँ। और, तबीयत हो तो, कह दीजिए, मैं परिपक्व हो रहा हूँ। यह सही है, कुछ खोकर कुछ बन रहा हूँ। यह औरों का काम है, देखें, क्या खो रहा हूँ; क्या नया ला रहा हूँ। मेरा काम अपनी नियति के अनुसार बदलते जाना है। यह कर सकता हूँ, तभी तक जीता हूँ और क्योंकि इसी क्षण मैं मुर्दा हो जाने लायक नहीं हूँ, मैं कहूँगा, मैं वहीं हूँ, फिर भी बदल गया हूँ। इन कहानियों में मैं अपने को खूब अच्छी तरह, और खूब प्रसन्न प्रेम के साथ पहचानता हूँ। कभी न कहने दूँगा, इन्हें और कोई लिख सकता, अन्तिम क्षण तक कहूँगा, मैंने लिखीं। फिर भी कहूँगा, जी को आज पूरी तरह भाती नहीं हैं। आज मैं उन्हें न लिखना चाहूँगा, न लिख पाऊँगा। जी कुछ और चाहता है, कसरती, कल्पना का आस्मानी 'रोमांस' नहीं चाहता; घास के किल्ले, जो भींगी धरती में अपने घूँघट में से उँझक कर, एक प्रातःकाल, अनायास, उत्सुक, खिलती धूप देखने लगते हैं और फिर क्षण होते-न-होते एकाएक-ही युद्ध के लिए जाते हुए योद्धाओं के असंख्य बूटों के तले कुचलकर वहीं रह जाते हैं—कुछ वैसा कोलाहल-शून्य मूक 'रोमांस' भी चाहता है। जगमग नहीं चाहता।"

क्रम

फाँसी

: १ :

सुन्दर युवा है। साधारण ही पढ़ा और इकहरी देह का है। उम्र कोई पैंतीस वर्ष। आकृति में कुछ विशेषता नहीं। केवल आँखों में न-जाने क्या है! देखते-ही दहशत होती है, पर तुरन्त ही उसे जानने को जी हो आता है, फिर मित्रता पाने की इच्छा होती है। इसी तरह परिधान में कुछ विशेषता नहीं है; केवल चौबीसों-घण्टे लँगोट बाँधे रहता है। इसी का नाम मोहनसिंह है। इसी के सिर पर दस हज़ार रुपये इनाम बोला गया है।

'क्यों ? वह क्या करता है ?'

किसी ने उससे पूछा था। उसने उत्तर में कहा था—'उपकार और कविता।'—फिर पीछे से समाधान करने के तौर पर कहा था—'डकैती !'

किन्तु उपकार तो नाप-तौल करने की, और देखने की चीज़ नहीं है—वह साबित करने की भी चीज़ नहीं है, और न गिनाने की ही है। इससे उपकार की बात तो नहीं की जा सकती। हाँ, उसकी कविताओं का और डकैतियों का थोड़ा-सा रेकार्ड है।

'शमशेर' उसका उपनाम है। डकैतियों में भी, कविताओं में भी यही नाम प्रसिद्ध है। शमशेर से ही लोग डरते हैं, उसी की तारीफ करते हैं, और बहुत-से हैं, जो उसी के एहसान मानते हैं। वे मोहनसिंह को नहीं जानते; बस, 'शमशेर' को जानते हैं।

जहाँ एहसान की बात है, वहाँ कितने उसके उपकृत हैं और कितने उसके शत्रु, यह बताना कठिन है; परन्तु उसका कहना है कि, दुनिया के लोगों के उस बहुत ही सूक्ष्म और अविचारणीय भाग को छोड़ कर, जो, धनमत्त, अधिकारमत्त व्यक्तियों को लेकर उठ खड़ा हुआ है, और उन्हीं के छल-छिद्र, जोर-जुल्म और षड्यन्त्रों के आधार पर आज सब के सिर बैठने का दम्भ करता है—मनुष्यता के उस जघन्य अंश को छोड़ कर सब उसके पूज्य हैं। अतः सब का ही वह हितैषी है, सब का सेवक है।

लेकिन दुनिया का वही जघन्य और सम्मानित पुरुषों का गुट्ट कहता है—'शमशेर शैतान है, पापी है, डाकू है; उसकी जिन्दगी बख्शने-लायक नहीं।' और इसका प्रतिवाद कोई नहीं करता। दीनों की, असहायों की, बालकों और माताओं की, दलितों, आर्तों, और दयार्थियों की अन्धा-धुन्ध संख्या, जो 'शमशेर' के उपकारों को जानती है, प्रतिवाद में एक शब्द नहीं कहती, प्रतीकार में एक उँगली नहीं हिलाती। क्या वह मूक है, क्या वह अपंग है?—या स्वीकार करती है कि उनका उपकारी शैतान है? 'शमशेर' उनकी अयाचित सहायता करता है; चुप-चुप उनकी पैसे से और और-प्रकार से रक्षा करता है। यह सब उनके लिये ठीक है, लेकिन आज उसे फाँसी लगे तो यह भी कदाचित् ठीक ही है!

इसलिए जब कानून कुछ कहता है, तो माना जाता है, यह विश्व-भर की सम्मति है। 'शमशेर' को इसमें भारी सन्देह है।

पर, सन्देह भारी हो, विश्व पर उसकी लाचारी नहीं है। और कानून की लाचारी है, क्योंकि कानून पर पुलिस है। इससे, उसकी सम्मति न सुनी जा सकेगी। अस्तु।

हम उसकी डकैतियों का हिसाब बिना सरकारी रजिस्टर देखे यहाँ नहीं दे सकते; वह रजिस्टरों में दर्ज है। पर, उसकी कविताओं का रेकार्ड लोगों के हृदयों में बसा है, ज़बान पर लिखा है। शब्द याद नहीं, नमूना नीचे है:—

लोगो, 'शमशेर' से डरते क्यों हो? वह फौलादी है, पर देखो, कितना झुक जाने को तैयार है।

लेकिन ख़बरदार! उसकी धार के सामने न पड़ना, वह न्याय की तरह बारीक है।

'शमशेर' दो बातें जानता है—बहादुरी और ग़रीबी। जिनमें दोनों नहीं, वे क्या आदमी हैं?

बहादुर अमीरी जीतता है, बनिया ठगता है। बहादुर को सिर झुकाओ, बनिये की अमीरी छीन लो!

बहादुर अमीरी को ठोकर मारता है, बनिया उससे चिपटता है। बनिये को नंगा कर छोड़ो! उसका 'बनिया-पन' उतार लो! उसे आदमी बनने दो!

विजेता सम्राट् अभिनन्दनीय हो, पर—पिछलगुए गीदड़! क्या गीदड़ों की अधीनता स्वीकार करोगे?—उन्हें सर झुकाओगे? मर मिटो, पर तने रहो, मर्द रहो!

'शमशेर' ने किताब में देखा—इन गीदड़ों

का नाम है—'आरिस्टोक्रेसी।' इस आरिस्टोक्रेसी में 'शमशेर' आग लगाने उतरा है। तुम भी आओ।

आरिस्टोक्रेसी !—कम्बख्त ग़रीबी के सिर पर पैर रख कर कहती है—हम हैं आरिस्टोक्रेसी ! ऐ लोगो, शमशेर के साथ मिलकर कहो—हम तेरा काला मुँह करेंगे।

'शमशेर' सरकार से कहता है—'तुम उसे फाँसी दोगे।' लोगों से कहता है—'तुम उसके लिए रोओगे।' दोनों से कहता है—'दोनों भूल में हो'

और, सबसे वह कहता है—दया पाप है, रोना पातक है। मत रोओ, मत रहम खाओ।

तुम प्यार के गीत गाते हो। 'शमशेर' मना नहीं करता, पर कहता है—पहले उस दरख़्त की खोह में बसेरा डाले, त्रस्त, चार-दिन के भूखे, उस परिवार को देख आओ, फिर प्यार को जी रहे तो करना।

अपने स्त्री-बच्चों के बीच तुम अपने को ऐसे भूले जा रहे हो, जैसे परमात्मा नहीं है, और जवाब तुम्हें नहीं देना !

प्यार !—यह जरूरत है। कौन कहता है, कि नहीं; लेकिन जीवन पहली जरूरत है। पहले उसे पैदा करो, दीनता का सत्यानाश करो !

जानते हो, 'शमशेर' प्यार का क्या करता है ? उसे

कुचल डालता है, और फिर नेक रो लेता है और अपने काम में लग जाता है।

लेकिन लोगो, 'शमशेर' बेवक़ूफ़ है। प्यार कभी कुचले मरा है ? कुचले से और भर न आये, वह प्यार-ही क्या ? इसी प्यार का दूसरा नाम है—दुःख। यह दुःख 'शमशेर' का शेवा है।

लेकिन शमशेर—शमशेर रहेगा। प्यार आयगा,—आये। वह बहेगा क्यों, भूलेगा क्यों ? दुनिया को याद रक्खेगा, और अपनी टेक को याद रक्खेगा।

: २ :

जाड़े की रात चुप-चुप फैली हुई है। अन्धकार निस्पन्द पड़ा है। हवा वर्फ़ की ठंड से सिसकारियाँ लेती हुई इधर-से-उधर भाग रही है। और वे मोती-से तारे काँपते हुए इस शान्त अन्धकार में से सोती और जागती दुनिया का सब हाल देख रहे हैं।

दो बजे होंगे।

घना जंगल है। कटीली झाड़ियाँ आपस में चिमटी हुई दूर-तक फैली हुई हैं। उसके बीच में से अनगिनत पगडण्डियाँ इधर-उधर चारों-तरफ़ आकर एक-दूसरे को काटती हुई न जाने कहाँ, किधर को, निकली चली जा रही हैं। जहाँ जरा पैर रखने की जगह दीखती है, वहीं पगडण्डी है। लेकिन कुछ कदम चलने पर ही वह ख़तम हो जाती है, और कटीली झाड़ियों का एक झुरमुट सामने आ खड़ा होता है।

रास्तों की इसी भूल-भुलैयाँ में एक व्यक्ति कम्बल का एक पुराना

लबादा ओढ़े, नंगे-सिर, मुँह से सीटी बजाता हुआ चला जा रहा है। न उसे समय की चिन्ता है, न अपनी चिन्ता है, कभी गुप-चुप हँसते तारों को देखता है, कभी सुन्न झाड़ियों को देखता है। क्या रास्ते को कभी देखता है ?

अचानक उसका ध्यान बटा, वह ठहरा। एक दहलाने वाली आवाज़ उसके कान में पड़ी। पूछा जा रहा है—'कौन है ?'

कुछ ठहरकर उसने पूछा—'क्या है ?'

प्रतिध्वनि हुई—'कौन जा रहा है ?'

पूछा—'आप कौन हैं ?'

'ग्रेटहार्ट !'

ग्रेटहार्ट के नाम से रात के आदमी थर्राते हैं। व्यक्ति ने उत्तर दिया—

'मैं हूँ, शमशेर !'

'मैं तुम्हें गिरफ्तार करता हूँ।'

'आप ?'

'हाँ !'

'मेरा सौभाग्य।...लेकिन गिरफ्तार होने की मेरी इच्छा नहीं है।'

एक फ़ायर हुआ।

कर्नल ग्रेटहार्ट अचूक गोली मारते हैं, पर शमशेर को किसी गोली ने नहीं छुआ।

शमशेर ने कहा—'यह क्या कर्नल साहब ?'

'मैं तुम्हें मारना नहीं चाहता। सीधी तरह गिरफ्तार हो जाओ !'

'मैंने कहा, कर्नल साहब, मेरी ख्वाहिश अभी नहीं है गिरफ्तार होने की।'

'नहीं है, तो मरोगे।'

'क्या डर है?'

'अब खाली गोली न होगी।'

'क्या डर है?'

एक गोली सनसनाती हुई आई, और शमशेर के कन्धे में से पार हो गई। एक हाथ से उसने गोली का आर-पार छेद बन्द कर लिया। उसने सुना—

'मान जाओ। यह गोली सिर में लगेगी।'

शमशेर ने कहा—'अरे, गोविन्द!'

दो आदमियों ने न-जाने कहाँ से आकर, न-जाने कैसे, पल-भर में कर्नल को खाली-हाथ कर दिया। कारतूस भरा-का-भरा रहा। कर्नल ने कहा—'फ़ायर!'

पाँच गोलियाँ दन्न से दगीं। वे दोनों धरती पर लोट गये। इसी समय मालूम हुआ जैसे काले भूतों की फ़ौज-की-फ़ौज ज़मीन से निकल पड़ी है। दो-एक क्षण कुछ पता न चला, क्या हो रहा है। फिर कर्नल के पाँचों सिपाही शमशेर के सामने पेश किये गये। खुद कर्नल भौंचक, निहत्थे खड़े रहने दिये गये।

शमशेर ने कहा—'इन पाँचों को बाँधकर यहीं छोड़ दो।' कर्नल से कहा—'कर्नल साहब, आज आपको मेरे साथ चलना होगा। देखिये, आपने मेरे पाँच आदमियों की हत्या की है। क्या आपकी जान पाँच से अधिक है?'

इतना कहकर शमशेर ने अपने खाली हाथ को कर्नल साहब के हाथ में डालकर उन्हें अपने साथ ले लिया।

अपने आदमियों से कहा—'तुम लोग जाओ, पर निश्चिन्त न रहो। आज पाँच आदमियों की हत्या का पाप मेरे सिर और चढ़ा है। भगवान् मालिक है!'

कर्नल ग्रेटहार्ट चुपचाप शमशेर के साथ चल रहे हैं। शमशेर भी चुप है। दोनों सोच रहे हैं।—क्या सोच रहे हैं?...

कुछ देर बाद शमशेर ने कहा—'कर्नल साहब! जो हूँ, वह न होता, तो मैं आपका सेवक होता, और धन्य होता!'

दोनों ने, दोनों को देखा।

शमशेर ने कुछ देर बाद पूछा—'साहब, पहले आपने खाली फ़ायर किया, फिर कन्धे पर गोली मारी। आपने यह गलती क्यों की?'

'गलती...?' और बीच में रुककर कर्नल चुप हो गए।

'आपके क़ानून में पाँच आदमियों की कुछ कीमत नहीं है। फिर आपने मेरी जान क्यों बख़्श दी? आप चाहते, तो मुझे पहली गोली में मार सकते थे।'

कर्नल ने कुछ जवाब न दिया।

'आपने क्या मुझ पर रहम किया?'

'तुम्हें फाँसी चढ़ना है, इसलिये नहीं मारा।'

'कर्नल साहब, क्या आपके नज़दीक जान की कुछ क़दर नहीं है?'

'नहीं, ...!'

'क्यों नहीं?'

'तुम्हारे साथ बहस नहीं माँगता।'

'कर्नल साहब, आप मेरे हाथ में हैं।'

कर्नल भौं सिकोड़ कर रह गए।

'मैं आपको मार सकता हूँ।'

कर्नल ने फिर उपेक्षा का एक 'एह !' कर दिया और बस !

'कर्नल साहब, मैं आपको मार दूँ, तो ?'

कर्नल ने अपनी उपेक्षा न तोड़ी।

'सुनते हैं ?—आपको मार दिया जाय. . .तो ?'

कर्नल ने विस्मय से देखा।—'तो ?. . .तो क्या ?. . . कुछ नहीं।'

शमशेर ने सोचा—यह शख़्स अपनी जान की क़दर नहीं करता, इसलिये इसे अधिकार है, दूसरे की भी न करे।

इधर कर्नल ने सोचा—कैसा अद्भुत जीव है। कन्धा आर-पार बिंध चुका है, फिर भी हँसकर बातें कर रहा है !

शमशेर ने कहा—'कर्नल, आप बड़े हैं, मैं छोटा हूँ; लेकिन. . .'

कर्नल ने झटककर कहा—'मैं तुमसे नहीं बोलना चाहता।'

'क्यों ?'

'तुम आदमी हो ?—जानवर हो।'

इस पर शमशेर हँसा। चाहता था, ठठाकर हँस पड़े। कहा—'यह देखते हैं ?' और यह कहकर जख़्म पर से अपना हाथ हटा लिया। लाल ताजे गर्म लहू का एक फव्वारा-सा छूट पड़ा। कुछ सेकिंड बाद अपने हाथ से जख़्म बन्द कर हँसते हुए शमशेर ने कहा—'इस . . .इसके बाद चुप रह जाने की आदत जानवर में कम होती है . . .आदमी में भी बहुत नहीं होती।'

कर्नल के जी में रोना उमड़ आया। उनके भरे जी ने देखा—शमशेर वीर है, खून का खिलाड़ी है; किन्तु सरकारी तर्क ने कहा—कुछ हो, वह डाकू है। इस पर, अपनी उमड़न को भीतर-ही रोक, उपेक्षा के गर्व से भरकर वह चुप ही खड़े रहे।

शमशेर ने मुस्कराते हुए कहा—'साहब, खून बहुत आ रहा है। बताइये क्या करूँ? यह आपकी ही कृपा है।'

कर्नल की देह में पर्याप्त बल था। उन्होंने एक-दम पकड़ कर शमशेर को नीचे डाल लिया। वह कुछ भी समझ पाये कि इतने में जख़्म पर से उसका हाथ हटा कर कर्नल ने अपनी कमीज़ में से एक टुकड़ा फाड़ कर जख़्म बाँध दिया।

अब शमशेर का सिर कर्नल की गोद में था।

शमशेर ने कहा—'यह धोखा!'

कर्नल ने कहा—'अंग्रेज ऐसे ही होते हैं।'

अपनी कमीज को चीर-चीर कर घाव का ड्रेसिंग करने के बाद कर्नल फिर उसके साथ चल दिये।

एक फूस के मकान के किनारों पर थपथपा कर शमशेर ने कहा—'मान!'

थोड़ी देर तक किवाड़ न खुले।

'मैं हूँ, मोहन।'

'सरदार!' कहकर विस्मय से 'मान' ने तुरन्त किवाड़ खोल दिये। शायद आज ही लौटने की सरदार की आशा न थी।

'मान, उम्मीद से पहले ही कर्नल साहब हमारे यहाँ आये हैं। तो भी हमारी ओर से कमी न होनी चाहिये।'

'मान' स-सम्भ्रम हट गया।

वे दोनों कमरे में पहुँचे। नीचे फूस था। दो मामूली खाटें पड़ी थीं। बिस्तरे के नाम पर भी उन पर कुछ था। खूँटी पर हरीकेन लालटेन लटक रही थी। एक जंगली मेज थी। उस पर कुछ कागज, एक डायरी, एक पेंसिल,—ये चीजें थीं। हाँ, एक

आले में रामायण की छोटी-सी जिल्द थी। कमरे-भर में और कुछ न था।

कर्नल साहब को जिस खाट पर बैठाया, उसी पर शमशेर आप बैठ गया। मेज को खींचकर दोनों के बीच में कर लिया।

मान आया तो उसने कहा—'पहले साहब के लिये अच्छा बिस्तर लाना होगा।'

साहब हिन्दी खूब जानते हैं, और अब वह बहुत बन्द रहना भी नहीं चाहते। पर शमशेर जो उन्हें राजधर्म और समाज-शास्त्र की चर्चा में खींच ले जाना चाहता है, उसमें वह नहीं पड़ना चाहते। वह शमशेर के बारे में सोचते हैं—'यद्यपि, सामग्री अच्छी है, पर परिस्थितियाँ अनुकूल न मिलीं। इसी से आज यह डाकू है। बेचारा !— कहीं शिक्षा पाई होती, तो कितना सुन्दर नागरिक आज यह होता !'

इसी समय शमशेर कह रहा है—'शिक्षा ! आज इसने हिन्दुस्तान को क्या बना दिया ?—हृदय की सारी विभूति को यह चूस लेती है, आदमी को दम्भ करना सिखाती है, वास्तव से हटाकर नकल करना सिखाती है; अपने शब्दजाल में सचाई को ढक लेती है, और अपने बड़े-बड़े कोषों और ग्रन्थों को दिखलाकर आदमी को उलझा लेती है। यह विद्या आदमी की सबसे बड़ी दुश्मन है। आज एक बहुत बड़ी विद्या का नाम है—क़ानून। हज़ारों-लाखों डेढ़-डेढ़ फुट ऊँचे पोथे उसके तानाबाना पूरने में बन चुके हैं।—और कर्नल साहब, आपकी उस सारी क़ानून की विद्या का उद्देश्य क्या है ? क्या स्वतन्त्रता का कुचलना नहीं ? वह स्वतन्त्रता जो हमें परमात्मा ने दी है और जिस-तक पहुँचना इस विश्व की सार्थकता है।—क्या यह विद्या, उनको, जो अन्यायी हैं, पर

जबरदस्त हैं,—सिर पर चढ़ाने; और, उनको, जो न्यायी हैं, इस लिए चुप हैं,—पैरों-तले कुचल डालने के ही काम नहीं आती ? क्या सत्य की हत्या के काम में नहीं आती ? क्या—?

कर्नल ने शान्त-भाव से कहा—'शमशेर, ज्यादा बोलो नहीं। थोड़ा दूध पीकर सो लो। घाव को आराम होने दो !'

शमशेर—'आप यह क्या कह रहे हैं ? मैं आपसे पूछता हूँ, आप इस क़ानून का कैसे समर्थन कर सकते हैं ? आज दुनिया इससे पिस रही है, क्या आप यह नहीं देख सकते ? क्या—?'

कर्नल ने कहा—'घाव का जोखम मत बढ़ाओ, शमशेर, जरा चुप रहो।'

शमशेर ने उसी आवेश में कहा—'क्या आप नहीं देख सकते कि क़ानून में भाव हक़ का है, प्रेम का नहीं। आँख अपराध पर है, समता पर नहीं। अंकुश त्रस्त पर है, शासक पर नहीं। वह चक्की है, जिसे एक पीसता है तो दस पिसते हैं। आप क्या पीसने वाले की मुट्ठी मजबूत कर सकते हैं, और कुछ नहीं कर सकते ? क्या—?'

कर्नल ने कहा—'चुप, देखो वह तुम्हारा 'मान' आ रहा है।'

मान कर्नल साहब की हैसियत के उपयुक्त बिस्तर ले आया है और दूसरी खाट पर बिछा देता है।

इससे पहले कि शमशेर कुछ कहे, कर्नल बोलते हैं—

'तुम्हारा नाम 'मान' है ? देखो, अपने सरदार के लिये दूध लाओ। उन्हें सख्त चोट आई है।'

तब शमशेर ने कहा—'देखते नहीं ?—साहब के लिए जल्दी कुछ लाओ !'

मान गया। कर्नल ने कहा—'मैं अब तुम्हें बोलने न दूँगा।'

शमशेर ने कहा—'आप उस बिस्तर पर जाइए !'

कर्नल ने कहा—'नहीं। आहत का कुछ अधिकार होता है और फिर मैं जानवर नहीं हूँ। तुम उस पर आराम से सो सकोगे।'

'नहीं।'

'नहीं।'

इस 'नहीं' पर शमशेर की आँखों में दो बूँद आँसू आ गये। कहा—'साहब, मैं डाकू हूँ, पर गरीब हूँ। मेरे लिये वह बिस्तर नहीं है।'

इस पर कर्नल चुपचाप उस खाट पर चले गये।

अब दोनों चुप थे। दोनों कुछ सोच रहे थे। दोनों कुछ पा रहे थे। इतने में मान बाक़ायदा ट्रे-कप, काफ़ी और टोस्ट के साथ आया। एक सकोरे में दूध भी था।

कर्नल ने कहा—'मुझे भूख नहीं है, मैं नहीं खाऊँगा।'

शम०—'ऐसी रूखी मेहमानी कभी न मिलेगी, मेरे पास और क्या है ?'

'नहीं, सो बात नहीं। मुझे जरूरत नहीं है।'

'साहब, मेरी मेहनत का पैसा है। सच्चा पैसा है—आप यक़ीन रखें !'

कर्नल—'शमशेर, मुझे ज़रूरत नहीं है।'

इस पर शमशेर ने मान से कहा—'मान, तो सब चीज़ें ले जाओ। मुझे भी ज़रूरत नहीं है।'

मान ले जाने की तैयारी में लगा। कर्नल ने देखा—'इस आहत सहृदय व्यक्ति की ख़ातिर सब-कुछ करना होगा।'

उन्होंने कहा—'तुम्हें ज़रूरत है, शमशेर।'

'नहीं।'

कर्नल ने मान से कहा—'अच्छा रहने दो, तुम जाओ !' कर्नल ने बिना कुछ कहे-सुने अब खाना शुरू कर दिया। वह भी अपना दूध पी गया।

कर्नल साहब ने फिर शमशेर की खाट पर आकर उसकी पट्टी ठीक की। फिर वहीं बैठ कर उसे सो जाने का अनुरोध करने लगे। शमशेर ने आपत्ति न की। अपने लबादे में से पिस्तौल निकाल कर मेज पर रख दी और कहा—'मैं समझता था, आप मेरे बन्दी हैं; पर देखता हूँ, उल्टे मैं आपका बन्दी हो गया हूँ। और फिर मैं बन्दी का करता भी क्या ? ऐसे बहादुर की हत्या का पाप क्या मैं उठा सकता हूँ ?'

थोड़ी देर बाद वह खुर्राटे लेने लगा।

कर्नल अपनी खाट पर आ गये, पर सो न सके। उन्होंने कमरे के चारों तरफ देखा। दर्वाजे के बाहर देखा। कोई पहरेदार नहीं है, कोई डर नहीं है। पिस्तौल देखी। बिलकुल नई कारीगरी की है; पाँच कारतूसों की, और पाँचों भरे हैं। देखकर फिर मेज़ पर रख दी।

कुछ सोचकर फिर पेंसिल उठाई, खुले कागजों में सब से ऊपर कुछ लिखा और साढ़े सात आने पैसे गिन कर मेज़ पर रख दिये।

मन में कहा—'शमशेर और हम दोस्त नहीं हो सकते। दुश्मनी ही हमें जेबा देती है; लेकिन मैं तुम्हें गलत नहीं समझूँगा, शमशेर ! फाँसी दिलवाऊँगा, तब भी गलत नहीं समझूँगा।' और फिर वह एक-बार चारों-ओर निगाह डाल कर झोंपड़े से बाहर हो गये।

दरवाजे से उनके निकलते ही शमशेर ने झपट कर कागज़ उठा लिया। लिखा था—

रोटी, दो टोस्ट	तीन आने
मक्खन	डेढ़ आने
काफ़ी, डेढ़ प्याला	ढाई आने
शक्कर	दो पैसे
	कुल साढ़े सात आने नक़द

पढ़ कर उसे सोच आया—'तो क्या उसे आतिथ्य का अधिकार भी नहीं है ?

शमशेर का जी भर-सा गया। फिर मन में उसने कहा—'कर्नल, तुम कब समझोगे, मैं तुम से कम सच्चा नहीं हूँ। समाज के लिए भी तुम से कम आवश्यक और कम उपयोगी नहीं हूँ।'

और, कोई आध-घण्टे बाद उसने जगा कर अपने आदमियों को हुक्म दिया—'यहाँ से जल्दी कूच कर देना होगा।'

सवेरे सूरज निकलते-न-निकलते वहाँ सुनसान हो गया। आदमी का निशान भी न था।

कोई ग्यारह बजे वहाँ पुलिस का धावा हुआ। खुद ज़िले के पुलिस कप्तान कर्नल ग्रेटहार्ट साथ हैं। पर पहाड़-सी आशाओं के नीचे वहाँ चूहा भी न निकला। तिनके-तिनके को उलटा-पलटा, पर कुछ न मिला।

मिली तो वह कर्नल साहब को साढ़े सात आने की चिट्ठी।

चिट्ठी ले कर कर्नल ने किसी के सुनने-न-सुनने की पर्वाह किये वग़ैर कहा—'शमशेर बहादुर ही नहीं, होशियार भी है।'

: ३ :

लेकिन कप्तान साहब की शिकायत की गई है। उन्हें एक चिट्ठी मिली है—'कर्त्तव्य से च्युत होना अफसर के लिये बड़े खेद की

बात है। उनके-जैसा मुस्तैद अब तक 'शमशेर' को पकड़ने में कामयाब न हो! सुना जाता है, उन्होंने ढील से काम लिया है। यह बताने की ज़रूरत नहीं, किस तरह शमशेर समाज के लिए ज़हर साबित हो रहा है, किस तरह यह जहर फैलता जा रहा है, और किस तरह उसका स्वच्छन्द रहना अत्यन्त भयङ्कर है। महीने के भीतर वह नहीं पकड़ा गया, तो उनका तबादला कर दिया जायगा।'—यह चिट्ठी का भावार्थ है।

कर्नल साहब ने अपने समाज-शास्त्र के ज्ञान की सहायता से, तर्क की सहायता से और बड़े अफसरों की डाँट के पत्र की सहायता से अपनी कर्त्तव्य-बुद्धि को और सचेत कर लिया है।

उन्होंने तय कर लिया है—समाज की रक्षा का दायित्व उन पर है। क़ानूनन शान्ति-रक्षा के वह उत्तरदाता हैं। और कानून हर किसी के हाथ में नहीं दिया जा सकता। किसी को उसे अपने हाथ में ले लेने की स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। इसके अर्थ अराजकता, अनियन्त्रण, धाँधलबाजी होंगे। और यह धाँधली कभी श्रेयस्कर नहीं। प्रकृति-भर में उसे स्थान नहीं। वहाँ भी नियम का राज्य है।...तो शमशेर बहादुर है, तो क्या उसे फाँसी अवश्य लगेगी।

भेदिये ने खबर ला कर दी है। आज कर्नल साहब अपने चुने हुए पन्द्रह आदमियों के साथ शाम से ही उस मकान को घेर लेंगे। कानों-कान खबर न होने पायगी। वह खुद हिन्दुस्तानी लिबास में जायँगे, और उनके सिपाही भी मामूली गँवार के भेष में पहुँचेंगे।

: ४ :

शमशेर अपनी एक माँ के यहाँ है। उसके अपनी न माँ है न बाप है। वह छोटा था, जब दोनों उसे छोड़ कर न जाने कहाँ चले

गये। दोनों साथ-साथ नहीं गये, अलहदा-अलहदा गये। वे दीन थे ; गाँव में रोटी का कोई धन्धा न जुड़ सका। इसलिये अपने इकले भाग्य को आज़माने के लिये दोनों को बिछुड़ जाना पड़ा। फिर उनका मिलना न हुआ। बालक मोहन बहुत दिनों तक अपनी माँ के साथ रहा। लेकिन जब एक-समय तीन रोज़ तक दोनों माँ-बेटों को खाने को कुछ न मिला, तो माँ ने सोचा—माँ की गोद से तो बेटा शायद परमात्मा की गोद में ही भला रहे। और वह जी कड़ा करके जंगल में सोते मोहन को अकेला छोड़ कर चल दी। उसके जगने पर इस एक माँ ने ही उसे रोता पाया था, और आश्रय दिया था।

कौन जाने, आज शायद माता, पिता और पुत्र तीनों ही जीवित हों—पर कहाँ, कितनी दूर ? किसी को एक-दूसरे का पता नहीं।

तीनों एक-रक्त एक-प्राण, एक अस्तित्व में बँधे तीन प्राणी हैं ; किन्तु आज तीनों के बीच भाग्य के कैसे विषम महासागर आ फैले हैं। तीनों जीवित ; पर तीनों के लिए तीनों मरे से भी अधिक''' हाय, दरिद्रता ; हाय, दया ; और हाय, ओ ईश्वर !

आज शमशेर अपनी उन्हीं माँ के यहाँ है, जिन्होंने उसे अपना वात्सल्य देकर, और सब-कुछ देकर बड़ा बनाया है ; और जिन्हें अपने हृदय की सारी भक्ति और सेवा देकर उसने अपनी माँ बनाया है। माँ अब वय से जर्जर हो चली हैं। इधर वह बहुत दिनों से उनकी खबर नहीं ले सका है। उसका व्यवसाय ही ऐसा है, या कहिये, उसका नाम ही ऐसा है। आज वह ख़तरों और सब सङ्कटों को स्वीकार करने के लिए कटि-बद्ध होकर माँ के पास आया है। माँ अब बहुत दिनों तक नहीं रहेगी ; उसने भी निश्चय

कर लिया है, उसे भी, बहुत दिनों तक नहीं रहना है। यहाँ आते समय उसने अपने से कहा था—'जीवन का लोभ ! छि: शमशेर ! तू इतना निकृष्ट है ! तू ने कहा था न, कि तुझे अतिथि होकर दुनिया में रहना होगा। न-जाने कब यहाँ से डेरा उठाने का वक्त आ जाय।'

इसलिये अब निश्चिन्तता से वह माँ की सेवा करने आया है।

इधर शमशेर के बहुत काल से खबर न लेने से माँ बहुत बिगड़ रही थी। सोचती थी—यह कहूँगी, वह कहूँगी ; लेकिन जब आते-ही शमशेर ने कुछ हँसती और कुछ रुँधी आवाज़ से कहा—

'अम्मा कैसी है तू ?'—तो उन्हें बिगड़ने की याद जाती रही और उन्होंने गद्‌गद् कंठ से पूछा—

'कहाँ रहा रे ?'

माँ, उस सब हास्य के, उस सब प्यार के बावजूद जो वह अपने बेटे पर बरसाती हैं, दिन-दिन क्षीण होती जा रही हैं, यह जानने में शमशेर को देर न लगी। वह और भी सचिन्त, संलग्न-भाव से उनकी सेवा करने लगा।

रात को वह दो-दो बजे तक खुद माँ की सेवा में रहता, पैर दबाता, कहानी सुनाता, और सुनता। माँ को कहानी कहना जितना रुचता था, उससे कम सुनना नहीं। और शमशेर के लिए तो इससे बड़ा सौभाग्य न था।

रात के बारह बज गये होंगे। माँ को नींद न आती थी। पैताने बैठकर शमशेर तलुओं में मालिश कर रहा था। उसने कहना शुरू किया—

'माँ, सुन। देख, सोना मत। कहीं तू सो जाय, और मैं कहता ही रहूँ।'

फिर एक कहानी सुनाई। एक राजा था—सात लड़के थे। छोटा अपनी माँ को बहुत मानता था, राजा को नहीं। राजा ने नाराज़ होकर उसे देश-निकाला दे दिया। रानी के लिए सूना हो गया। उसका जी किसी काम में न लगता। अन्त में वह भी जंगल में चली गई। जंगल में एक रोज़ उसका बेटा मिल गया। उसे बड़ी खुशी हुई। अब उसे कहीं न जाने देती, अपने पास ही रखती और सब काम खुद करती। उसे डर लगा रहता था—कोई उसे, उठा न ले जाय। एक रोज़ की बात—रात का वक्त था कि एक दैत्य आ खड़ा हुआ। डरावना मुँह था, लाल-लाल आँखें…

माँ एक-दम चीख़ मार मूर्छित हो पड़ी।

शमशेर चिल्लाया—'माँ! माँ!!'

किसी ने कहा—'शमशेर, तुम्हें गिरफ्तार कर लूँ, तो क्या हो?'

शमशेर ने मुड़कर देखा, कर्नल है। उसने बड़ी आजिज़ी से कहा—'साहब, यह मर जायगी।'

'दया माँगते हो?'

'अपने लिए नहीं।'

'यह कौन है?'

'पुत्र-हीना एक माँ है, मेरी माँ है।'

'अच्छा, भागने की कोशिश तो न करोगे?'

'माँ को छोड़कर कहीं न भाग सकूँगा।'

'अच्छा, अपनी पिस्तौल दो। तुम शैतान हो।'

शमशेर ने अपनी पिस्तौल जेब से निकाल कर दे दी।

'अच्छा, अब मैं जाता हूँ।—और देखो, यह लो। इसकी सिर पर मालिश करना; गश दूर हो जायगा। और इस शीशी में टॉनिक है। रोज देना—दूध के साथ। बदन में ताकत आवेगी, मैं जाता हूँ।'

गए और जाते-जाते लौट आए। आकर कहा—'देखो, अपनी माँ से निबटकर तुम अपने को मुझे सौंप दोगे, इसका वचन दो। मैं तुम्हारा विश्वास करना चाहता हूँ।'

'अपनी बेहोश माँ के पैरों में सिर डाल कर वचन देता हूँ।'

'माँ की खबरदारी रखना।'

कर्नल चले गये।

दवा की मदद से माँ को कुछ देर बाद होश हुआ। आँख फाड़कर माँ ने पूछा—'बेटा, बेटा! वह कहाँ गया?'

'कौन माँ?'

'वही तेरा कहानीवाला दैत्य! डरावना मुँह, लाल-लाल आँखें। बेटा मैं डर गई। तो वह तुझे लेने नहीं आया था?'

'मेरी माँ, मैं कहानी भूल गया था। वह दैत्य नहीं, देवता था।'

: ५ :

कर्नल ग्रेटहार्ट ने मकान से बाहर आकर अपने आदमियों को इकट्ठा किया। कहा—'भीतर कोई डाकू नहीं मिला, अब यहाँ से चल देना होगा।'

सिपाहियों को आराम से रात बिताने में कुछ भी आपत्ति नहीं हुई। कर्नल के साथ वापिस चलने को तैयार हो गये। इसी समय एक करारी आवाज आई—'ग्रेटहार्ट!'

कर्नल मुड़े। देखा—उसके अफसर सर सेवेज हैं।

कर्नल ने कहा—'सर, आप!'

'जी, मैं ही, और कोई नहीं।'

'आज्ञा...?'

'...तो शमशेर मकान में नहीं है ?'

'मुझे तो कोई डाकू अन्दर नहीं मिला।'

'झूठ बोलते हो...'

'झूठ मैं नहीं बोला करता।'

'अच्छा, चलो, मेरे साथ अन्दर चलो।'

कर्नल सर सेवेज के साथ फिर मकान में गये।

शमशेर अब दुगने प्यार से, दुगने चाव से और दुगने सोच के साथ माँ के पैर मलता-मलता यही कहानी पूरी कर रहा था। उसे देखते ही सेवेज ने कड़कती आवाज में कहा—'ग्रेटहार्ट, यू ट्रेटर, * यह शमशेर नहीं तो क्या है ?'

'जी, मैं नहीं जानता। यह अपनी माँ का बेटा है। मैं इसे डाकू नहीं समझ सका।'

माँ अवाज सुनकर और इन दोनों की सूरतों को देखकर एकदम सहम गई। मुँह से बोल न निकला। मूक-मूढ़ इन्हें देखती रही। जब उसने सर सेवेज की मुद्रा भली प्रकार देख पाई तो दहशत से काँप गई। जोश में एकदम बिस्तर से उठ बैठी, और शमशेर को अपने सारे अवशेष बल से चिपकाकर चिल्ला पड़ी—'बेटे !'

सेवेज ने रिवॉल्वर तान कर कहा—'शमशेर, अलग हो ! मैं बुढ़िया को नहीं मारना चाहता।'

शमशेर ने कहा—'ज़रा ठहरिये !'

---

* ओ धोखेबाज।

माँ बेटे को गोदी में छिपाने की कोशिश कर रही है, और स्वयं भी मानो उसमें छिपना चाह रही है।

कर्नल—'सर, ही उड सरेण्डर। (सर, वह अपने को सौंप देगा।)'

सेवेज—'यू डेविल्स बोथ ! गेट अवे यू ट्रेटर।'
(ओ शैतान, दूर हट दग़ाबाज़ !)

कर्नल—'सर, माइण्ड, यू डोण्ट किल हिम।'
(सर, सावधान, उसे मार न दें।)

सेवेज—'यू इनफ़ाइडल ! अवे विद यू एन्' यो' पिटी।'
(ओ बेईमान, अपनी दया लेकर दूर हो !)

कर्नल ने, रोकने के लिए, अभी अफ़सर की बाँह को छुआ-ही था कि रिवॉल्वर का घोड़ा दबा। आग की लपकती हुई जीभ-सी बाहर निकली। लेकिन निशाना जरा टेढ़ा हो गया। गोली जर्जरित माँ की हड्डी-पसलियों को तोड़ती हुई सीने के आर-पार हो गई। क्षण के बहुत-ही सूक्ष्म भाग-तक छटपटाकर, शमशेर की बची-खुची, मुट्ठी-भर जीर्ण-शीर्ण हड्डी और देह की माँ ठण्डी हो गई। शमशेर दर्द-भरी आवाज़ में चिल्लाया—'माँ ! माँ !!' फिर सम्भल कर कहा—'कम्बख़्त य' तैने क्या किया ?'

सर सेवेज को अफ़सोस करने की फ़ुरसत नहीं थी। शमशेर को बचा देख, वह दूसरे फ़ायर की तैयारी कर रहे थे, लेकिन तो भी जरा ठिठक रहे थे। कर्नल हत-बुद्धि खड़े थे, और सुन्न-से शमशेर को देख रहे थे।

शमशेर और भी सम्भला। कहा—'जाओ, साहब, जाओ ! मेरी माँ मुझे अब न मिलेगी, तो भी आप जाओ !'

सेवेज—'गेट रेडी, आई फ़ायर।'

(तैयार हो, मारता हूँ गोली।)

शमशेर—'साहब, मुझे व्यर्थ हत्या मत दो। देखो, चले जाओ!'

सेवेज—'टॉक अवे, डॉग। आई ब्लो दाऊ अप इन ए सेकण्ड।'

(बक ले। एक सेकण्ड में मैं तुझे उड़ा दूँगा।)

शमशेर—'देखो, यह तीसरी बार है। अब भी वक्त है। चले जाओ।'

सेवेज—'ओ, इट् गेट्स लेट। लेट मि फ़िनिश।'

(देर हो रही है। लाओ, खत्म कर दूँ।)

शमशेर ने माँ के ताजे लहू में हाथ रँगे और सिंह की तरह पलक-मारते सेवेज पर झपट पड़ा। घोड़ा दबे-न-दबे उससे पहले अफ़सर का हाथ शमशेर के कब्जे में था।

'यू कर्नल, ह्वाट दि डेविल आर यू स्टेयरिंग ऐट ?'

(कर्नल, क्या ताक रहा है ?)

मिनट-भर में अफ़सर को नीचे पटककर उनका रिवॉल्वर शमशेर ने अपने हाथ में कर लिया। फिर उसकी ओर तान कर कहा—

'साहब, तुम मरना चाहते थे, लो मरो। लेकिन ज़िन्दगी में मेरी यह पहली हत्या है।'

कर्नल ने अब जैसे जाग कर कहा—'शमशेर, खबरदार!'

शमशेर अफ़सर को नीचे दबाये रहा। कर्नल की ओर देखकर कहा—'क्या है, कर्नल ?'

'शमशेर, हत्या न कर सकोगे।'

'कर्नल, यह हत्यारा है, मेरी माँ को इसने मारा है।'

'ठीक है। तुम्हारी माँ नहीं आयेगी। इसके मारने से भी नहीं आयेगी।'

'कर्नल, इसने मेरी माँ को मारा है, मेरी माँ को ! क्या तुम यह समझोगे ?'

'शमशेर ! तुम मर्द हो न ? आँसू पोंछो, छोड़ो, खड़े हो, हत्या मत लो !'

'कर्नल, तुम मुझे और गुस्सा क्यों दिला रहे हो ?'

'छि: ! शमशेर !'

'चुप, कर्नल—चुप ! मैं इसे मारूँगा—जीता न छोड़ूँगा ।'

'शमशेर, एक बात सुनो । इसकी एक माँ है । वह घर पर बैठी होगी । सोचती होगी, मेरा बेटा अब आयेगा, अब आयेगा । तुम इसे मार दोगे तो, शमशेर, उस माँ का क्या होगा ?'

शमशेर कुछ रुका । फिर क्या हुआ कि चिल्ला पड़ा—'ओह, कर्नल !' और रिवॉल्वर फेंक, अफसर छोड़, उसने दोनों हाथों से अपना मुँह ढक लिया और फूट-फूटकर रोने लगा । फिर माँ के वक्षस्थल से निकलते हुए लाल-लाल लोहू में लोट-लोट कर उसने कहा—'अरी माँ, सुन । मैं कभी किसी को न मारूँगा ।'

सेवेज साहब उठ गये । कपड़े झाड़-पोंछ लिये । अब उन्हें सीधे घर पहुँचने की ज़रूरत सूझती थी । उनकी माँ से उन्हें और कुछ लाभ हुआ या न हुआ, पर यह लाभ बहुत ही ज़बरदस्त हुआ । उन्होंने सोचा—माँ को चलकर एक हिन्दुस्तानी के पागलपन की बात सुनायेंगे । लेकिन कर्नल ने उन्हें रोक लिया । कहा—

'शमशेर को अब गिरफ़्तार करना होगा । उसका वक्त अब आ गया है ।'

शमशेर जब ज़रा शान्त-चित्त हुआ तो कर्नल ने पास पहुँचकर कहा—'चलो शमशेर, अब हमारे साथ चलो । अब तुम्हारी गिरफ़्तारी का वक्त आ गया है ।'

'साहब, मुझको माँ का क्रिया-कर्म करना होगा ।'

कर्नल—'शमशेर, दुनिया का मोह अब न करो । चलो,नहीं तो देर होगी ।'

शमशेर—'साहब...साहब, बिरादरी !...और...आप...'

कर्नल—'हम ईसाई हैं, तुम हिन्दू हो—यही न ? छिः, इसका भी लोभ तुम्हें बना है ! जिन्दगी का मोह छोड़ा, बिरादरी का अभी बना ही है !'

शमशेर—'साहब ! यह न होगा ।'

कर्नल—'न होगा ? मैं तुम्हें मर्द समझता था, क्या यह समझना गलत होगा ? नहीं, मैं तुम्हें कमज़ोर नहीं बनने दूँगा । ... सिपाही ! ... तीन आदमी इधर आओ । इन्हें गिरफ्तार करो ।

शमशेर ने माँ के पैर से माथा रगड़ कर हथकड़ियों के लिए हाथ आगे कर दिये । दोनों हाथ हथकड़ियों से जुड़ गये । पाँच आदमियों ने चारों तरफ होकर उसकी ज़ंजीरें सम्भालीं । और जब कैदी बाहर निकला तो एक जुलूस-का-जुलूस उसके साथ था । दस सिपाही आगे, दस पीछे, पाँच साथ । सेवेज सबसे आगे; और कर्नल सब से पीछे ।

कैदी रो नहीं रहा है । कर्नल भी रो नहीं रहे हैं ।

सेवेज गर्व से भर रहे हैं—अपनी विजय कैसे कहूँगा, कैसे छपाऊँगा । शमशेर को पकड़ना और किसी के लिए क्या सम्भव है ?

: ६ :

सवेरा हो आया है । सूरज उतना ही लाल और उतना ही

गरम है। हवा भी वैसी ही तेज और वैसी ही ठण्डी है। लेकिन मालूम होता है, ओस आज-रात रोज से जरा ज्यादा रोई है, धरती मामूल से ज्यादा भीगी है। दरख्त भी जैसे अभी-अभी आँसू बहा चुके हैं।

जुलूस चल रहा है।

नदी का पुल आया है। पानी का यहाँ सुभीता रहेगा। मंजिल सख्त हो चुकी है। यहाँ थोड़ा विश्राम कर लें।

सेवेज खुशी में फूल रहे हैं, और अपनी डींग की बातें सोचने में मस्त हैं। कर्नल साहब हठात् कैदी की परवाह नहीं करना चाहते। कैदी अपने पाँचों रक्षकों की रक्षा में सुरक्षित है।

उसे प्यास लगी है, वह पानी पीना चाहता है। रक्षकों की परीक्षा का अवसर आया है। लेकिन वे अपने अधिकार को तत्परता के साथ निबाह रहे हैं। वह जानते हैं—शमशेर को बन्दी रखना कोई छोटा अधिकार नहीं है। जंजीरें उन्होंने कस के पकड़ ली हैं, हथकड़ियों को एक निगाह देख लिया है, और नपे-नपे कदम से सत्तरह आदमियों की अत्यन्त बारीक, तत्पर और एकाग्र दृष्टि की कैद में कैदी को किनारे तक ले जाया जा रहा है।

किनारे पर पानी पीने को कैदी झुका—लेकिन, क्या हुआ।

मुट्ठी वैसे ही सख्त बँधी है, जंजीरों पर जरा भी खिंचाव नहीं पड़ा है, बीसों आँखें वहीं-की-वहीं जमी हैं, लेकिन—देखते-देखते मानों जादू के बल से हथकड़ियाँ अलग जा पड़ी हैं, और कैदी झपटकर पानी में अदृश्य हो गया है!

कैदी फरार हो गया! कैदी फरार हो गया!!

'कैदी फरार हो गया' का शोर चारों दिशाओं में गूँज उठा। लो दौड़ो, यह करो, वह करो—कैदी फरार हो गया। मानों आकाश

और धरती दोनों एक स्वर से यही गुँजाने लगे। लेकिन किसी को सबेरे-ही-सबेरे उस ठण्डे पानी में उतरने की न सूझी ! इतने में कैदी न-जाने कहाँ-से-कहाँ पहुँच गया। जब लोग पानी में कूद-कर जैसे-हो-वैसे कैदी को पकड़ लाने को तैयार हुए, तब उन्हें यह समझने में देर न लगी कि अब उसका कुछ परिणाम न होगा और व्यर्थ साहस करने की आवश्यकता नहीं है।

जितनी देर में यह शोर उठा और खतम हुआ, उतनी देर में सेवेज साहब के बड़े ऊँचे-ऊँचे किले गिरकर तहस-नहस हो गये। और उनकी बेबूझी खुशियाँ गुस्से में बदल गईं और वह गुस्सा उतरा कर्नल साहब पर।

'कर्नल, तुमने कैदी को क्यों भाग जाने दिया ?'

'मैंने ! नहीं, कभी नहीं ।'

'फिर वह कैसे भागा ?'

'मालूम होता है, जरूर किसी शैतान की मदद से ।'

'शैतान ! वह शैतान का साथी है ?'

'और नहीं तो क्या ?'

'कर्नल, वह बड़ा खूँख्वार आदमी है ।'

'साहब, वह कहता था—मैं जरूर तुम्हारे अफसर को मारूँगा।'

'हाँ ?'

हाँ।...सर, आपने उसकी माँ को मारा, ठीक न किया। वह जरूर कुछ-न-कुछ आफत करेगा।'

'अह ! हम डरता थोड़े ही है ! ... लेकिन यह जंगल ठीक नहीं है, हमको जल्दी अपनी जगह पहुँचाना चाहिए।'

विश्राम उखड़ गया और तेज़-रफ्तार से अफसर साहब बंगले पर पहुँच गये।

: ७ :

कर्नल ग्रेटहार्ट की बदली हो गई है। उन्हें बर्मा के किसी जिले में भेज दिया गया है। उनकी जगह दूसरे अफसर आये हैं। यह अपने हस्ताक्षर A. Fairish (ए० फेरिश) करते हैं; लेकिन उनका नाम यह नहीं है। वह अंग्रेज से ज्यादा अंग्रेज हैं। उनसे बढ़कर ठाठ से रहते हैं, उनसे गोल अंग्रेजी बोलते हैं, उनसे बिगाड़कर उर्दू बोलते हैं और उनसे ज्यादा बार खाना खाते हैं। सिर्फ जरा कम गोरे हैं, इससे कोई-कोई उन्हें हिन्दुस्तानी समझे—यह वह पसन्द नहीं करते।

नये अफसर बहादुर हैं, या नहीं हैं; वह होशियार अवश्य हैं। उनकी अफसरी ही इस बात की है। उन्होंने अपनी जिन्दगी में एक-बार नहीं खाया है, और केवल एक-बार गोली चलाई है, और वह तब जब खतरा न था। फिर भी बहुत से दुर्दान्त डाकुओं के पकड़ने का श्रेय उन्हें मिला है। उनकी इस प्रसिद्धि के कारण ही इस जिले में उन्हें भेजा गया है।

जब से अफसर आये हैं, तब से बँगले से बाहर नहीं निकले। बँगले पर सख्त पहरा रहता है और जब वह टहलने को बाहर निकलते हैं, तब पहरा भी साथ टहलता है; परन्तु अफसर साहब सरगर्मी से तदबीर सोचने में लगे हुए हैं। पहले दिन से ही वह इस तरफ चुस्त हैं। उन्हें यकीन है—अगर वे शमशेर से बचे रहे, तो शमशेर उनसे न बच सकेगा।

रात के ग्यारह बजे एक व्यक्ति उनसे मिलने आया है। अपने खास कमरे में वह उससे बातें कर रहे हैं।

'कहो, क्या हुआ?'

'जी, मुझसे न हो सकेगा।'

'न हो सकेगा ?—क्यों ?'

'साहब, वह मेरा दोस्त है।'

'दोस्त है, इसीलिए तो काम तुम्हारे लिए और आसान है।'

'साहब, लोग मुझे जीता न छोड़ेंगे।'

'किसी को कानों-कान खबर न होने पायेगी।'

'साहब, रुपये किस काम आयेंगे, जब अपने स्त्री-पुरुष ही अपने न रहे।'

'क्या लोग उसे इतना पसन्द करते हैं ?'

'साहब, गाँव में कौन ऐसा है, जिसका उसने कुछ-न-कुछ भला न किया हो।'

'तो कहो, तुम नहीं कर सकते।'

'नहीं कर सकता।'

'देखो दस हज़ार थोड़े नहीं हैं। और ज़मीन दिलवा दूँगा।'

'जी नहीं।'

'नहीं ? अब के 'नहीं' कहा तो जेल में डलवा दूँगा।'

व्यक्ति अविचलित—चुप।

'ख़ैर, मैं दस मिनट की और मुहलत देता हूँ। सोच लो !'

अफसर चले जाते हैं। और व्यक्ति सोचता है—क्या वे आँखें आज न दीख पड़ेंगी ? जब-जब मैं आया, तब-तब वह मेरे रास्ते किसी-न-किसी तरह आ गई। क्या आज अप्रकट ही रहेंगी ?

थोड़ी देर में धीरे से दर्वाजा खोल जुलेका अन्दर आई।

'मैं तुम से बातें करना चाहती थी।'

व्यक्ति मूढ़ हो रहा।

'तुम शमशेर को जानते हो ?'

'जानता हूँ।'

'वह कैसा है ?'

जुलेका ने जल्दी छुट्टी न दी। एक-एक बात उसने पूछी। और प्रत्येक जानकारी पर उसकी बेचैनी बढ़ती गई। अन्त में उसने पूछा—

'उसकी घरवाली है ?'

'उसकी घरवाली नहीं है।'

'उसने शादी नहीं की ?'

'नहीं।'

'वह ऐसा है ?...'

'वह औरत से डरता है।'

बगैर रुके जुलेका ने पूछा—'तुम उसके दोस्त हो ?'

'मैं उसे जानता हूँ।'

'तुम मेरी दोस्ती पसन्द करोगे ?'

व्यक्ति का रोम-रोम चाह से और लाज से सुन्न हो रहा।

जुलेका ने एक-दम उसका हाथ पकड़कर कहा—'तुम मेरी दोस्ती नहीं चाहते ?'

व्यक्ति चुप।

'मेरी एक बात मानोगे ?'

'......?'

'मानोगे ?'

व्यक्ति ने अपनी अन्तःकरण की लालायित स्वीकृति आँखों में भरकर, ज़रा-ज़रा पलक उठाकर देखा,—यौवन के वसन्त में कुन्द की यह कली कैसी विवशता से खिल रही है !

'मानोगे ?...देखो शमशेर को ला दो। मैं देखूँगी वह कैसा है ?...कैसे वह फाँसी पर चढ़ता है ?'

अफसर ने आकर पूछा—'कहो हवालात जाओगे। या...?'

'जी, काम मुश्किल है, देखूँगा। लेकिन पन्द्रह हज़ार दिलवाइये।'

'अच्छा।'

: ८ :

अफसर का बड़ा अस्त्र और बड़ी लड़की जुलेका है। साहब ने नाम को संस्कृत करके जुली रेबेका बना दिया।

यह लड़की दिल की जगह आग लेकर आई है। इसने बहुतों को खींचा है। जो इसके सम्बन्ध में अपने सौभाग्य के परीक्षार्थी हुए हैं, इसने उन्हें जलाकर खाक कर छोड़ा है। लेकिन स्त्री है। चाहती है—कोई इस आग को पानी करदे। चाहती है—जलने का अन्त हो। तरल बनकर उसके बहने का समय आये। वह जल रही है, और ठंडक की प्यासी है। पानी नहीं चाहती, बुझाना चाहती है। चाहती है, कोई हो, जो बर्फ के स्तूप की तरह उज्ज्वल हो, कठोर हो, और ठण्डा हो; उसके जी के भीतर की जलती आग की लपटें जिसके चरणों को छूकर, शीतल हो, आँसू बन चू जायँ, और वह वैसा ही धौला खड़ा रहे। जिसके पास से मिले कुछ नहीं, प्यास ठण्डी-भर हो जाय। इसीलिये अपनी आग का सब पर प्रयोग करने को तैयार हो जाती है। इसीलिये अनायास वह साहब के हाथों बड़ा प्रबल अस्त्र साबित होती है।

दर्जे-पर-दर्जे पास करती हुई वह अब बी० ए० में पहुँच गई है। वह इस तरह कहाँ-तक बढ़ेगी, कहाँ-तक पहुँचेगी, इसका कुछ

ठिकाना नहीं है। कोई उसे नहीं जानता। अपनी मालिक वह खुद है। हाय, कोई उसे मालिक नहीं मिलता !

पिता पर शासन करती है, उपन्यासों का अध्ययन करती है, और अपनी परीक्षाएँ करती है। इसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं करती।

: ६ :

माँ का क्रिया-कर्म करने के बाद से शमशेर अदृश्य है, अगम्य है, शान्त है। दुर्लभ्य, वह जंगल में रहता है, और चुप रहता है। लेकिन आज वह—मैला, रूखा; किन्तु सुन्दर—गाँव में आया है। यहाँ उसका मित्र सजनसिंह रहता है। सजनसिंह अपनी शिक्षा के लिये काफ़ी सम्माननीय व्यक्ति है। शमशेर का वह विश्वास-भाजन रहा है, विश्वास का पात्र भी रहा है।

मकान के अन्दर।

दोनों आपने-सामने दो खाटों पर बैठे हैं। शमशेर ने कहा—'सजन भैया, मेरी माँ मर गई ! तुम जानते हो, मेरे लिये वह कौन थी !'

'शमशेर, अब किया क्या जा सकता है ? भगवान की मर्जी ! इतने खिन्न मत हो !'

'मैं बहुतेरा जी लिया। अब किसके लिये जिऊँ ?'

'तुम्हारी बड़ी आयु है, शमशेर।'

'आयु का मैं क्या करूँ, जब पुण्य ही नष्ट हो गया। इसके बाद जीने की इच्छा करना, बड़ी विडम्बना है। माँ मेरी पुण्य-प्रतिमा थी। वह चली गई ! जो स्नेही हैं, उन्हें भी कब-तक कष्ट दूँ ? पुण्य क्षीण हो जाने पर उनकी मित्रता भी मुझे कब-तक प्राप्त

होगी ? सजन भैया, जीवन के पुण्य को खोकर, रस-हीन, मित्रता-हीन, उद्देश्य-हीन, और जीवन-हीन दिन बिताने से क्या लाभ ? और सजन भैया, सरकार को मेरी जरूरत है, शायद नरक में भी मेरी जरूरत है।—और सजन, तुम जानते हो सरकार आदमियों के भले-बुरे की जिम्मेदार है। सजन, बहस न करो, मुझे एक बात कहने दो।'

'शमशेर, यह तुम क्या बक रहे हो ?'

'मैंने क्या कभी बका है ?... यह तो मेरे बिल्कुल मन की बात है।'

'लेकिन क्यों ? तुम मित्र-हीन तो नहीं हो।'

'सजन भाई, शायद मित्रों को मेरी जरूरत नहीं। मेरी मित्रता उनके लिए भार है।'

सजन भैया जरा ठिठक गये।

'सजन, जानते हो, मेरे पास कुछ नहीं है। एक कच्चा मकान है। उसमें भी कोई दीन बेचारा आकर बस गया है। बस, एक चीज है। वह मैं तुम्हें देना चाहता हूँ। और मेरा है कौन ?'

'आज तुम दुःखी क्यों हो शमशेर ?'

'मेरे पास दस हज़ार रुपये हैं। तुम्हारे सिवाय मैं वह किसी को न दूँगा।'

'——?'

'देखो, इन्कार न करो। स्वीकार करो, और मुझे दुनिया से बिदा लेने दो।'

सजन भैया टपाटप आँसू गिराने लगे। उन्होंने बहुत जोर लगाकर कहा—

'जानते हो शमशेर, मैं तुम्हारी पन्द्रह हज़ार क़ीमत लगा चुका हूँ ?'

'यह तो और भी अच्छा है। मेरे मित्र को पाँच हज़ार और मिलेंगे।'

सजनसिंह की रुलाई खुलकर फूट निकली।

शमशेर ने कहा—'भाई, दुःखी मत हो। तुम धोखे से घृणा करते हो; मैं भी करता हूँ। लेकिन यह धोखा नहीं है। अगर फिर चित्त शान्त न हो, तो इन रुपयों को दीनों के काम में लाना। वह रुपया है भी तो दर-असल उन्हीं का—उन्हीं के लिए।'

मित्र ने रोते-रोते कहा—'तुम आये थे तब मैं सोच रहा था—तुम्हें कैसे पकड़ाऊँ ? तब मुझ पर गाज क्यों नहीं गिरी !'

शमशेर ने कहा—'उस बात को इस भयानक रूप में मत देखो; जैसे मैं देखता हूँ, उसी रूप में देखो। मुझे मरना है—आज नहीं तो कल, मरना तो होगा ही। सरकार न ढूँढ पाये, यह असम्भव है। उसकी बड़ी-बड़ी बाहें हैं; बड़े-बड़े भेदिये हैं। पर यह सम्भव भी हो, तो भी मरना तो होगा ही। हाँ, वैसे मरने से जो थोड़ा-बहुत उपकार अब भी मेरे हाथ में है, वह मैं न कर सकूँगा। अगर पकड़ा गया, तो यह मेरा रुपया—मेरे सिर का रुपया—न-जाने किसके हाथ पड़ेगा। इससे तो अच्छा, वह मेरे मित्र को मिले। और शायद वह मित्र उसका ठीक उपयोग कर सके !'

सजन ने अत्यन्त त्रस्त होकर कहा—'हाय शमशेर...' और वह अधिक कुछ न कह सका।

शमशेर ने कहा—'दुःख मत मानो। मैंने बहुत सोचा है। और राह नहीं है। पाप की चेतना दूर करो। मत समझो, मित्र-घात कर रहे हो। समझो, मित्र की इच्छा पूरी कर रहे हो। वह इच्छा

पूरी कर रहे हो, जिसके बाद इच्छा अशेष हो जायगी। सोचते होंगे, मैं क्यों मौत चाहता हूँ? मौत ऐसी तुच्छ वस्तु है, कि उसका चाहना लज्जास्पद है। चाहने को मेरे पास उससे बड़ी वस्तु है। जीवन है, और मोक्ष है। मौत मोक्ष नहीं है, और मैं मौत नहीं माँगता। पर, मौत मोक्ष में रुकावट भी क्यों है? इससे, मौत को टालना भी मैं नहीं माँगता। देखता हूँ, उसका समय आया है। इस बारे में मेरे जी में भूल नहीं है। मेरी मौत से दुनिया की अर्थ-सिद्धि है, मेरी भी परमार्थ-सिद्धि है। विश्व का अर्थ सिद्ध करने व्यक्ति की मौत आती है। परमात्मा उसे भेजता है। व्यक्ति क्यों न उसे धन्यवाद के साथ ले और आगे बढ़े? और क्यों उस व्यक्ति का मित्र भी उसमें सहयोग न दे? यही करके तुम्हारे भीतर की पाप की ग्लानि अपनी आग से जलाकर नष्ट होगी। और उपाय नहीं है।...और, मैं क्या मोहन हुआ, जो एक क्षण के लिये भी मैंने अपनी मौत टालने की इच्छा या चिन्ता की? और तुम क्या मित्र हुए, जो अन्त समय मित्र के काम न आये?'

सजन अतिशय कातर हो उठा। कहा—'तुम्हारे हाथ जोड़ता हूँ, शमशेर, मेरी रक्षा करो। मुझसे और कुछ मत कहो! मेरा परलोक मत बिगाड़ो! मुझे सम्भलने दो!'

शमशेर ने सजन के दोनों जुड़े हाथों को अपने हाथों में थाम लिया। उसकी डबडबाई आँखों में भरपूर देखते हुए कहा—'नहीं-नहीं, सजन। मैं देखता हूँ, क्या होगा। वही होगा, जो कहता हूँ। यही सम्भलने का मार्ग है। हिम्मत करो। मर्द की तरह सम्भलो, मित्र की तरह काम करो। चलो, उठो...'

शमशेर अपने मित्र सजन को पुलिस के पास ख़बर देने के लिए भिजवाकर ही माना। इधर से शमशेर ने उसे धकेला, उधर

से जुलेका की आँखों ने उसे खींचा। वह बेचारा विवश, चला गया।

: १० :

अफसर साहब ने गुस्से में कहा—'यह फिर, चुप ?'

सजनसिंह रो रहा है और चुप है।

'अरे, कुछ कहता भी है ?'

भरी हुई आँखें, विवशता और मूक मौन।

'अच्छा, दिल कब्जे में करले !'

अफसर का प्रस्थान। कुछ ठहरकर जुलेका का आगमन।

'सजन, मैं कितने दिन तुम्हारा इन्तज़ार करती रही !'

सजन चुप। क्षण बाद, एकाएक, जैसे चीख़ कर उसने कहा—'वह इस वक्त मेरे मकान पर है।'

मानों डंक पकड़ कर, झटके के साथ भीतर से खींच निकालकर यह वाक्य जो बाहर हुआ है, वह जिगर को चीरता हुआ आया है।

जुलेका इस अप्रत्याशित जोर पर सहमकर, क्षण-इक स्तब्ध रह गई। फिर कहा—'सजन, कैसे अच्छे हो तुम ! आओ, मेरे कमरे में चलो।'

सजन, स्तम्भित, मन्त्र-मुग्ध उठ गया।

स्वर्ग के कमरे में।

'बैठो।' कुर्सी पर वह बैठ गया। सामने कोच पर अस्त-व्यस्त, निस्संकोच वह बैठ गई।

'क्या कहते थे ?—उसी शमशेर की बात कहो।'

बेचारे सजन से एक-एक बात कहलवा ली गई।

सुनने पर जुलेका बोली—'तुम्हारा शमशेर बड़ा मूर्ख है !'

सजन व्यथा से, प्यास से और लाज से बेसुध हो रहा।

अचानक अफ़सर का आगमन—

'कम्बख़्त ! कुत्ता ! हरामी !'

उसने आँख उठाकर देखा। जुलेका काफ़ूर ! तड़-से एक बेंत उसकी कनपटी को उधेड़ गया !

: ११ :

उसी खाट पर, वही शमशेर।

सामने आरक्त, अचंचल, सौदामिनी-सी, पूरी तनकर खड़ी हुई जुलेका।

'शमशेर, तुम गिरफ्तार होगे ?'

'हाँ ?'

'पुलिस आ रही है।'

'आती होगी।'

'तुम्हें फाँसी लगेगी।'

'जानता हूँ।'

'बचना चाहते हो ?'

'कैसे ?'

'मैं बचा सकती हूँ।'

'सो तो जानता हूँ। पर क्यों बचा सकती हो ?'

'फाँसी से मुझे दहशत होती है। फाँसी बुरी चीज़ है।'

'जुलेका, मैं किस लिये, किसके लिये बचूँ ?

'मेरा नाम !...तुम कौन हो ?...कैसे लेते हो ?... कैसे जानते हो...जो ?

'अफ़सर की लड़की को न जानूँगा ? तुम्हें बहुत दिनों से जानता हूँ। अब-तक नाम लेता रहा हूँ, क्या अब न लूँ ?'

'शमशेर, तुम ढीठ हो।'

'हो सकता है। पर तुम्हें जब छोटी देखा था, जुलेका कहा था। तब की लगी बान क्या सहज छूटती है ? तो भी, क्या चाहती हो, तुम्हें कहूँ ?'

'कुछ हो, तुम नाम न ले सकोगे। ...तो तुम बचना नहीं चाहते ?'

'किसके लिए ?'

'तुम्हारा कोई नहीं ?'

'सब कोई, सब कुछ, मौत है।'

जुलेका—'नहीं, शमशेर, मैं जुलेका हूँ। मैं मौत नहीं हूँ। मैं तुम्हें बचा सकती हूँ।...और, मैं मौत भी हूँ।'

शमशेर—'बचाने की ताक़त मुझ पर न ख़र्चो। मैं क्या लेकर बचूँ ? बचूँ इसलिए कि किसी और को लेकर मरूँ ? नहीं, जुलेका।'

जुलेका—'अच्छा, तुम जुलेका कहो। मैं नाराज़ नहीं हूँ। तुम कहो, मैं नाराज़ न हूँगी। तुम सब-कुछ कह सकते हो। शमशेर, तुम यह भी क्यों नहीं कह सकते कि मैं तुम्हें बचाऊँ ? मुझ पर कोई नहीं है, और तुम बच जाओगे।...तुम क्यों मौत चाहते हो ?'

शमशेर—'मैं वह तक भी नहीं चाहता।'

जुलेका—'नहीं, शमशेर, कुछ चाहो किसी को चाहो। कुछ करो, पर चाहो। चाह ज़िंदगी है।'

शमशेर—'इसीलिए मेरे लिए मौत है।'

जुलेका—'मौत की बात मत करो। शमशेर, तुम जानते हो,

मैं नहीं जानती। पर मैं कहती हूँ, तुम जिओ और जीतो।... अगर कोई नहीं है, जिसके लिए जिओ और जीतो, तो मैं...'

शमशेर—'ठहरो, जुलेका। मैं फाँसी के लिए जी रहा हूँ। क्या फाँसी के लिए हार जाऊँ?'

जुलेका—'ओह, नहीं। तुम बड़े ख़राब हो...तुम्हें मालूम नहीं मैं जुलेका हूँ।...पर, ..तुम्हें मालूम है।...तुम किसी और के लिए कुछ नहीं कर सकते? कहो, देखो,—किसी भी और के लिए।'

शमशेर—'किसके लिए?'

जुलेका—'कोई...किसी के लिए...'

शमशेर—'नहीं।'

जुलेका—'तो तुम मरोगे...'

शमशेर—'तैयार हूँ।'

जुलेका के जाने के आध-घण्टे बाद बहुत से बन्दूकों और किरचों से सजे सिपाहियों ने आकर शमशेर को पकड़ लिया। पीछे फ़ेरिश साहब आये और अकड़ के साथ क़ैदी को गिरफ्तार करके चल दिये। कोई देखता उनकी परकटी तितली-सी मूछों का एक-एक बाल खड़ा हो गया था।

: १२ :

अवसर पाते ही जुलेका ने पूछा—'पापा, शमशेर गिरफ्तार हो गया?'

'और नहीं तो क्या बचता?'

'पापा, कब से आप उसे जानते हैं?'

'कोई दस बरस से।'

'कैसे पापा?'

'उँह !'

'तो नहीं बताओगे ?'

'जुली, तू बड़ी जिद्दी है !'

'मैं जानूँगी।'

'कुछ बात भी हो ?'

'सुनानी होगी, पापा।'

'एक रोज मैं डाकुओं के चंगुल में पड़ गया। तुम भी साथ थीं। तब मैं थानेदार था; डाकुओं के लिए कीमती चीज़ था। कम्बख़्त मुझे मार डालते। इतने में शमशेर उधर से निकला। वह उनका सरदार था। उसके हुक्म से उन्होंने हमें छोड़ दिया। जब तक मैं चलने-लायक हुआ, तब तक हम दोनों उसी के मेहमान रहे। आख़िर 'इनसान का फ़र्ज', 'सरकार का हक़' और न जाने किस-किस बात पर, कितनी-कितनी सलाह देकर, उसने मुझे रुख़सत कर दिया। तभी से मैंने तै कर लिया, इसे पकड़ूँगा, तो मेरा बड़ा नाम होगा। कम्बख़्त, भलेमानसों की-सी बातें करता है !'

: १३ :

जेलखाने के अफ़सरों में भी और क़ैदियों में भी बड़ी चहल-पहल है। जेलखाने के बाहरी अहाते में बिलकुल एक तरफ़ एक पक्का चबूतरा है। ऊपर का हिस्सा लकड़ी का है। उसके दोनों तरफ चबूतरे से सात फ़ीट ऊँचे लोहे के दो शहतीर हैं। उनके सिरे पर एक और शहतीर चपटा पड़ा हुआ है। बीचों-बीच एक घिर्री लगी हुई है।

यह फाँसी है !

आज इस लोहे की फाँसी को साफ़ किया जा रहा है। क़ैदी

हँस-हँस कर उसे माँज रहे हैं। क़ैदी से अधिक उसे कौन जानेगा ? क़ैदी मेहनत से उसे साफ़ कर रहे हैं और हँस रहे हैं। आज उसका उपयोग होगा,—आज उसे साँप की तरह चमकना चाहिए।

थोड़ा-सा इसका नवीन इतिहास है। उस दिन राष्ट्र की धारा-सभा में फाँसी का कौन-सा, कैसा यन्त्र उपयुक्त होगा, इसकी बहस चली थी। जो विधान न जानने वाले यह कहने को खड़े हुए थे, कि फाँसी का लोप हो जाना चाहिए, उन्हें 'प्वाइण्ट ऑव आर्डर' के नाम पर बैठा दिया गया था; यानी उनकी बात असंगत थी। फाँसी पर उनकी राय नहीं पूछी जा रही थी; वह तो जैसे पहले से-ही निर्णीत विषय है। फाँसी है, और रहेगी। प्रश्न उसके प्रकार का था। इस पर वहाँ बहुत ही भावपूर्ण, खोज-पूर्ण और ज्ञान-पूर्ण भाषण हुए थे। जान लेने में किसमें कम—किसमें ज्यादा देर लगती है; प्राण निकालने में कितनी देर लगाना दया के विरुद्ध नहीं है; फाँसी की पुरानी रीति क्या है, और नई क्या-क्या हैं; दोनों एक-दूसरे से क्यों अच्छी-बुरी हैं; फाँसी की रीति में किस प्रकार विकास हुआ है; और फिर यह कि कौन कम-ख़र्चीली है और कौन ज्यादा !—क्योंकि सभ्य सरकारों में सबसे पहले और सबसे पीछे कोष की चिन्ता रहती है—आदि-आदि असंख्य दृष्टि-विन्दुओं से इस प्रश्न पर वहाँ विवेचन हुआ था।

उस विवेचन के परिणाम-स्वरूप जो फाँसी का सबसे उपयुक्त, लोम-हर्षी, मनहूस और भीषण रूप खड़ा है, आज उसी को घिस-घिस कर साफ़ किया जा रहा है।

हम कुछ नहीं कह सकते। देश के योग्यतम पुरुषों और प्रति-निधियों के बहुमत के इस अनिन्द्य-सुन्दर परिणाम को देखकर हमें डर लगता है !

तो भी एक बात कहना चाहते हैं। वह यह कि फाँसी पाये हुए लोगों का भी एक प्रतिनिधि धारा-सभा में रहना चाहिए। वह—जिसने, यन्त्रकार के अनुभव और आईन-कार के तर्क से नहीं, वरन् फाँसी पर लटक कर जान लिया हो, फाँसी किसे कहते हैं।

: १४ :

जेल-सुपरिण्टेण्डेण्ट, जेलर, जल्लाद और कुछ ऊँचे अँग्रेज और हिन्दुस्तानी अधिकारी फाँसी के निरीक्षण के लिए आये हैं।

जल्लाद चढ़कर रस्सी का फन्दा घिर्री में अटका देता है। रस्सी बिलकुल नई है। हर दफ़ा नई रस्सी काम में लाई जाती है। फन्दे में एक भारी बोरा लटकाया गया है।

यन्त्र घूमा! चबूतरे के फ़र्श के लकड़ी के तख्ते नीचे झूल गये। बोरा नीचे-वाले अँधेरे कुएँ में लटक गया।

सबने एक-स्वर में कहा—'ठीक है!'

शमशेर के हाथ पीछे से बँधे हैं। संगीनों के पहरे में वह लाया जा रहा है।

निरीक्षकों की संख्या में अब कुछ वृद्धि हो गई है। अँग्रेज और बहुत-से आ गए हैं। अँग्रेज़ और हिन्दुस्तानी पुरुषों की संख्या के बराबर अँग्रेज़-महिलाओं की संख्या है। इनमें एक हिन्दुस्तानी भी है—ज़ुली रिबेका (Zulie Rebecca), या ज़ुलेका।

दर्शकों में एक हमारा परिचित और है। वह कर्नल ग्रेटहार्ट। अन्तिम समय में वह आ मौजूद हुए हैं। बर्मा से वह शमशेर की हालत की बराबर ख़बर लेते रहते थे। उनके हाथ में कैमरा है।

शमशेर बिना मदद के चढ़ जाता है। न हँसता है, न रोता

है; जैसे जो-कुछ हो रहा है, सबसे सम्बन्ध ही नहीं है; उसके दिल में जैसे कोई लड़ाई ही नहीं हो रही है !

मेमें देखती हैं, और आपस में मज़ाक़ करती जाती हैं। अँग्रेज़ भी जैसे मज़ा ले रहे हैं !

ज़ुली ने जो एक बार शमशेर को देखा है, कि फिर नहीं देखा। वह कर्नल के पास आकर उससे बातें करने में लग गई। केवल एक व्यक्ति है, जो बँधी, निर्निमेष आँखों से शमशेर को देख रहा है।

सुपरिण्टेण्डेण्ट ने पूछा—'तैयार हो शमशेर ?'

'जी हाँ।'

'आख़िरी वक्त है। क्या कुछ सोचते हो ?

'थोड़ा-सा पानी चाहिए।'

'और कुछ नहीं ?'

'नहीं।'

झपट कर ज़ुली चबूतरे के तख्ते पर पहुँच गई, और चिल्लाई—'और कुछ नहीं ?—शमशेर ! और कुछ नहीं ?... '

'और क्या...ज़ुलेका ?'

'और कुछ नहीं ?....मरते वक्त और कुछ नहीं ?'

'नहीं—'

'थोड़ा-सा प्यार......'

'ज़ुलेका !—क्या कहती हो !'

'बिलकुल ज़रा...ज़रा-सा प्यार...'

'छि: !'

'अच्छा, आखिरी बात ! उसका जवाब दे दो... तुमने व्याह क्यों नहीं किया ?'

'ज़ुलेका, औपन्यासिक न बनो। इसमें कुछ नहीं है।'

जुलेका हार गई। वह बेहोश हो गई। उसे हटा दिया गया।

अँग्रेज़ों ने, मेमों ने, और सब ने इस घटना में बड़ा मज़ा लिया। और, कर्नल खड़े-खड़े एकटक देखते रहे।

पानी आया। शमशेर ने पी लिया।

जल्लाद ने फन्दा गले में डाला—कर्नल ने अपना कैमरा खोला।

कन्धे-तक आने-वाला काला खोल शमशेर को उढ़ाने की तैयारी हुई। उसने कहा—'अगर कुछ हर्ज न हो, तो रहने दें।'

क़ैदी का यह अनुनय मानने का अनुग्रह हुआ।

कर्नल ने एक 'स्नैपशॉट' (फ़ोटो) ले लिया।

शमशेर ने पूछा—'कर्नल, मैं पास हो गया?'

कर्नल के आँसू, जो न-जाने कब के निकलने न पाये थे, चुपचाप कोयों में आकर ढरक पड़े!

शमशेर ने कहा—'कर्नल! ऐं, तुम 'फ़ेल' होते हो?'

कर्नल को बड़ी शर्म आई और बड़ा रोना भी आया।

वही यन्त्र दबा। लकड़ी के तख्ते झूल गये। शमशेर गड़हे में लटक गया।

कहते हैं—लाश उस अँधेरे गड़हे में दो-दो तीन-तीन घण्टे-तक झूलती रहती है, तब उतरती है।

: १५ :

जुलेका बदल गई है; पिघल कर पानी हो गई है, और वह पानी आँखों की राह निकलते-निकलते कभी ख़त्म नहीं होता।

अफ़सर लोग तत्परता से अफ़सरी निबाह रहे हैं।

सजनसिंह को धेला नहीं मिला है; सब-कुछ फ़ेरिश साहब और उनके दोस्तों की जेबों में पहुँचा है।

कर्नल ने नौकरी छोड़ दी है। हम उनके घर एक बार गये थे। फाँसी चढ़ते हुए शमशेर के फ़ोटो के सामने खड़े होकर वे कह रहे थे—

'शमशेर ! मैंने एक रोज़ तुम्हें मज़बूती का उपदेश दिया था। मैंने ! और तुम्हें ! ! मेरा वह कैसा दम्भ था !'

सुनकर हम ठहर न सके; लौट आये।

ग़दर के बाद

सन् '५७ में हिन्दुस्तान ने लाल दिन देखे। तब धरती पर खून बहा और आसमान पर उछल-उछल आया। उन्हीं दिनों की बात है—

: १ :

जेल के क़ैदी छुड़ाकर, डाकख़ाना फूँककर, और ऐसे-ही और काम करके मेरठ की चिनगारी दिल्ली में आ गई है। यहाँ जो बहुत दिनों से भड़क उठने लायक सामान इकट्ठा किया जा रहा था, वह अब भड़क उठने को तैयार हो रहा है।

...थ् इन्फ़ण्ट्री के अफ़सरों को फ़ौज ने जवाब दे दिया है। उन्हें भाग जाना चाहिए, नहीं तो उनकी खैर की फ़ौज ज़िम्मेदार नहीं। अभी भाग जाने का वक़्त है, जैसे-बने जान बचा लें, नहीं तो आग लग पड़ी तो ठीक-ठिकाना नहीं रहेगा।

यह चेतावनी लेकर···थ् के कर्नल···बँगले पर आये। वक़्त पर जो ख़बर मिल गई है, उससे ज़रूर फ़ायदा उठा लेना चाहिये। वह अब भागने की तैयारी में लगे। लेकिन,····लेकिन मिसेज़ · ? वह

कहाँ गई ? उन····पादरी के यहाँ गई होंगी। बच्चा भी उनके साथ है। सोचा—वहाँ से उन्हें झटपट लाकर भाग चलें।

लेकिन तभी एक आर्टिलरी के एडजुटेण्ट घबड़ाये-से बँगले में आये।

'ओह, कर्नल ! यों मत बैठो, भाग चलो ! बलवाई बढ़ रहे हैं···तक आ गये हैं !'

उस···तक की बात सुनकर तो कर्नल हताश हो गये। तो अब पादरी के यहाँ पहुँचा नहीं जा सकेगा। बीच में बलवाई मिलेंगे। क्या किया जाय ?

एडजुटेण्ट ने ताड़ लिया—'क्यों—तुम्हारी···?'

'उस···पादरी के गई मालूम होती हैं।'

'ओ, वहाँ ! वहाँ का तो रास्ता रुका हुआ है।'

एडजुटेण्ट के मशवरे ने अन्त में काम किया, और उनकी निज की सहज-बुद्धि (common sense) ने भी।—हाँ, देखो, एक जान के पीछे दो जान क्यों गँवाई जाँय ? वह बच गईं, तो अच्छा ही है, उधर वह ढूँढने जाकर खतम हो गये, तो कुछ बात न हुई।

इस तरह एडजुटेण्ट, कर्नल, और कुछ अँग्रेज और मेमें—जो बना समेट-समाटकर, जो बचे, उन्हें परमात्मा के और अपनी प्रार्थना के ऊपर छोड़कर, खैर मनाते-मनाते भाग चले।

: २ :

पादरी के यहाँ जब मिसेज···को···थ इन्फैण्ट्री के बाग़ी हो जाने की ख़बर मिली, तो वे पति के सोच में व्यग्र हो उठीं। न-जाने क्या हो गया हो ! एक नेटिव नौकर को साथ लेकर बँगले पर

पहुँचीं। राह में, हवा में किसी उपद्रव की मर्मराहट-सी तो जान पड़ी, पर व्याधि कोई सामने नहीं आई।

लेकिन बँगला ख़ाली था।

तब बच्चे को छाती से चिपटाकर, जो बड़ी-बड़ी आँखों से यह सब देख रहा था, जिधर पता मिला वह गये हैं, उधर ही चल दी।

: ३ :

…चौधरी ने अँग्रेज़ी फ़ौज में नौकरी की थी। पर ख़ून बहाना अपना काम बनाना उसे अखरने लगा। उसने वह नौकरी छोड़ दी। ख़ून तो पवित्र चीज़ है, वह क्या उस तरह बहाने के लिये है? वह देने के लिए है, लेने के लिए नहीं। ऐसी ही भारी-भारी बातें सोच-सोचकर वह गम्भीर बन गया। उसकी इस गम्भीरता का आस-पास अजीब दबदबा फैल गया। लोग उससे दहशत खाने लगे; क्योंकि वह कम बोलता था, और बोलता था, तब ऐसे, कि मानों वह बात उसकी विधना भी नहीं टाल सकेगी। ऐसी आत्म-दृढ़ता के आगे सबको सहम जाना पड़ता था। फिर बात थी यह, कि वह बहुत सादा रहता था, माँस खाना छोड़ दिया था, और किसी को नहीं सताता था। न किसी से लाग-लपेट रखता था, न ख़ास मुहब्बत और मुरव्वत, और न किसी का डर। बात टालते और बदलते उसे कभी किसी ने न देखा। जब कहता खरी कहता, और उस पर से डिगने का नाम न लेता,—चाहे बुरी लगे, चाहे अच्छी; चाहे दुश्मन हो, चाहे दोस्त। उसके इस दो-टूक स्वभाव से ही लोग दहशत खाते थे।

लेकिन इधर दो साल से उसमें और भी परिवर्त्तन हो चला।

वह और भी चुप रहने लगा। उसकी आवाज़ में मानो दृढ़ता अब वज्र-कठोर होकर बजने लगी। मानो मन-ही-मन वह एक संकल्प, एक उद्देश्य, एक चाह, एक क़र्त्तव्य की सिद्धि की बात सोच रहा है, और उसके योग्य सामर्थ्य बटोर रहा है। एक संदेह था जो पक्का हो गया, और सन् '५७ के दिन आने से दो महीने पहले से उसने फ़िरंगियों की नीति पर कुछ शब्द कहने शुरू कर दिये। एक दल भी बनाया, जो वक्त पर काम आने को था।

उस दल के काम का और चौधरी के पलटा खाने का दिन आया। कहें, चौधरी की परख का दिन आया। सन् '५७ की आग फूटी, और उससे चौधरी एक-दम फुँक पड़ा।

पैंतालीस बरस का होगा, और जवानों में दर्शनीय था।

चौधरी और उसके दल से लोग थर्राने लगे,—अँग्रेज़ भी और हिन्दुस्तानी भी। क्योंकि प्रसिद्ध था—दल का एक-एक आदमी अँग्रेज़ों को हिन्दुस्तान से निकाल बाहर करने की शपथ खाये हुए है। और हिन्दुस्तानी उसके सामने मनमानी न करने पाते थे।

लेकिन ग़ुस्सा हद नहीं जानता। उसके साथी अँग्रेज़ों से ग़ुस्से से जलते थे। पर चौधरी में ग़ुस्सा न था। कहें उसमें प्रेम था। इसीलिए, वह हद भी जानता था, और जो कर गुज़रना है, सो भी।

: ४ :

एक गौरांग युवती, हिरनी-सी सहमती, चारों ओर मानो आपत्ति की टोह लेती हुई, बच्चे को कई कपड़ों की तहों में लपेट

कर उसे कसकर छाती से चिपकाये हुए···पुरे में घुसी ।—मानो मौत के मुँह में घुसी ।

थक रही है। मुँह पर कातर भाव फैला है। प्यासी है, थोड़ा पानी चाहती है, बच्चे को लिटाने को थोड़ी छाँह, और ज़रा—बिलकुल ज़रा-सा—ढाढ़स। क्योंकि उसे बड़ा डर लग रहा है। चारों तरफ़ इस खोखले शून्य में मानो एक विलक्षण त्रास भरा है, जो उसके कान में रह-रहकर भारी आशंका की सूचना दे जाता है।

चली आ रही है दूर से—धूप में, रास्ते-बे-रास्ते, इस नन्हें-से बच्चे के बाप को ढूँढती हुई, इस भयंकर भय और आशंका में से अपनी राह बनाती हुई···

आज···पुरे के आदमी आनन्द में हैं। जिसे अब तक सिर पर देखा था, उसे पैरों से लथेड़ेंगे, और ख़ुश होंगे। फिर उसे रास्ते लगाकर दूसरे को ढूँढेंगे, और उसकी भी वही गति बनाएँगे। जिन्होंने-जिन्होंने उन पर राज्य करने का दम्भ किया, उन सब की ऐसी ही दुर्गति करेंगे। इसी बदले की बात सोच-सोचकर वे मानो सुख पा रहे हैं। यह दाद खुजाने से मिलने वाला, या कुत्ते को सूखी हड्डी चूसने से मिलने-वाला सुख है। अपने को ही खुजाते हैं, अपना ही खून पीते हैं, फिर भी समझते हैं, वैसा मज़ा कहीं नहीं। ऐसे ही स्वात्मघातक बदले के भाव के सुख में आज वह··· पुरा मस्त हो रहा है।

: ५ :

'देखो, वह कौन आ रहा है ?'—कहकर कहने-वाले ने एक बड़े भेद की हँसी हँस दी। सुनने-वाला समझ गया। वह भी मानो स्वीकृति में हँसा। यह बात और यह हँसी, इससे उसे और उससे

इसे, सब में फैल गई। और वह पन्द्रह-बीस आदमियों का गुट्ट, मानो सर्व-सम्मत, एक समझौते पर आ गया। तभी इनमें से रहमत ने सैन दी पास बैठे लड़के खचेड़ू को। उसने पहचाना, और वह चला गया। दम-भर में खचेड़ू अपनी पार्टी को लेकर आने-वाले के स्वागत के लिए चला। पार्टी में सात से तेरह वर्ष-तक के लड़के हैं; आठ-दस होंगे। कोई लँगोटा-ही बाँधे है, किसी-किसी ने धोती पर कुर्ता भी लटका रखा है, किसी के हाथ में ठीकरा है—उसे ही बजाता चला जा रहा है, कोई बग़ल ही बजाता है, कोई मुँह से ही बाजे का काम ले रहा है।

वानर-सेना के इस यथार्थ एडीशन ने कई तरह की आवाज़ें निकालकर उस महिला का स्वागत किया—

एक कहता—'आई हैं मेम साऽब !'

सब बोलते—'ख़ुशियाँ मनाओ ख़ूब !'

एक—'क्या ख़ूब आई हैं वो।'

कोरस—'क्या पड़ रही है धूप !'···आदि-आदि।

वह नीचे धरती देखती-देखती चलने लगी। उसके दोनों ओर यह वानर-दल बँट गया। वैसा ही तुकान्त या अतुकान्त गीत और वैसे ही कंकरी फेंककर छेड़-छाड़ आदि जारी रही।

जहाँ वे आदमी बैठे थे, वहीं आई वह—

'पानी···तोड़ा। प्यासा···बेबी।···रअम, बाबू !'

एक बात कहदें। जैसे अब अपनी गर्ज़ से हिन्दुस्तानी अँग्रेज़ी सीख लेते हैं, वैसे ही तब, अँग्रेज़ अपनी गर्ज़ से हिन्दुस्तानी जान रखते थे। तब बहुत-कम ऐसे श्वेतांग होते थे जो हिन्दुस्तानी समझ या बोल न सकते थे। बात यह थी कि तब तक अँग्रेज़ी से

हिन्दी, और हिन्दी से अँग्रेज़ी बनाकर समझा देने वाले, किराये के बाबू-लोगों का सम्प्रदाय बढ़ने नहीं पाया था।

महिला ने दोहराया—'खोदा के वास्ते ···'

उस समय सब ने एक-दूसरे की ओर देखा। रहमत ने आगे बढ़कर कहा—'लाओ बच्चे को, मैं देता हूँ इसे पानी।'

रहमत के घनी काली दाढ़ी है,—मक्खी फँस जाय तो जीती न निकले। सिर पर ताज़ी कटी दूब-से बाल हैं। ओठों पर लकीर-सी मूछें हैं, जिनके सिरों पर दो पूँछ लटक रहीं हैं। सब मिलाकर वह एक भयानक जन्तु दीख पड़ता है। आँखें पत्थर के हनुमान में जड़ी-जैसी, गोल-गोल, तरेड़ खाती हुई, भट्टी-सी जल रही हैं। महिला डरी।

पर बच्चा कैसा नन्हा-भोला है! उसको प्यार करने के सिवा कोई कुछ कर ही नहीं सकता! उसने बच्चे को लपेटों में से खोला! कैसा वह नीली-नीली, बड़ी-बड़ी आँखें फाड़कर देख रहा है रहमत को, और लौट-लौटकर अपनी 'मम्मा' को! झट उसने फिर 'मम्मा' के घोंसले में दुबक रहने का प्रयत्न किया। रहमत के पास वह जाना नहीं चाहता। तब रहमत ने हाथ बढ़ाया। महिला ने भी ज़रा जोर लगाकर 'बेबी, वाटर! बेबी वाटर!!' कहते हुए, बच्चे को उन रहमत के फैले हाथ में थमा दिया।

रहमत ने कहा—'लालू!'

लालू उठा।

'वहाँ जाओ।···उस जगह···हाँ···ठीक···अब लो।' कहकर रहमत ने बच्चे को उछाला। आकाश में गुड़ी-मुड़ी खाता हुआ वह चला। लपक लिया तब उसे लालू ने। अब तो यही खेल चला। बच्चा इस हाथ से उस हाथ, और इस हाथ से उस हाथ—गेंद की

तरह से उछाला जाने लगा। धीरे-धीरे उन लोगों ने अपने बीच का फ़ासला भी बढ़ाना शुरू किया। देखना यही था, कि आखिर कौन चूकता है !

मेम इस वक्त अपना सारा जीवन आँखों में लाकर बच्चे को देख रही है—वह गया, ओह कितना ऊँचा !—गिरा-गिरा !... आह !...वह लपक लिया !! इस तरह उसके प्राण मर-मरकर जी रहे हैं, जी-जीकर मर रहे हैं। इस मौत और जीवन के अन्तराल को उसके प्राण एक क्षण में न-जाने कितने बार आर-पार कर जाते हैं ! इस व्यथा को कौन जानेगा ?...

वह अब लालू बच्चे को उछालने को है ! ...'हैं-हैं' !...वह एक चीख़ देकर दौड़ी—रहमत ने बढ़कर उसकी कलाई पकड़ ली।

—'कहाँ जाती है ?'

तभी लालू ने बच्चा उछाल दिया। तभी एक गरज सुन पड़ी—'क्या है ?'

तभी सब-कुछ ठैर गया। सब स्तब्ध होगया। बच्चे को किसी ने न लपका—वह आकाश में चक्कर खाता हुआ पत्थरों पर गिरा—सिर खिल गया, और उसका नन्हा-सा प्राण हवा में मिल गया। तभी खिड़की में से चौधरी ने झाँका—'क्या है ?—ठैरो।'

रहमत ने हाथ छोड़ दिया। महिला बौखलाई खड़ी हो गई। लालू भूला-सा वहीं का हो रहा। और सब भी वहीं चित्र-लिखे-से रह गये।

महिला सन्न !—अब य' और क्या ?

चौधरी आया—देखा, अपने ही लोग हैं जिनके चेहरों पर शरारत है, और जिस पर अब दहशत आ छाई है। और एक तरफ भयभीता, त्रस्ता, पीता, मानों क़ब्र से उठकर आई हुई एक इंगलिश

महिला है। आखें फटी हैं, और देख कुछ नहीं रही है। उसने चिल्लाकर कहा—

'कम्बख्तों, यहाँ यह मर्दुमी कर रहे हो? डूब मरो! एक औरत पर हाथ—हिन्दुस्तानी होकर !! तभी इस लड़ाई में लड़ोगे? हिन्दुस्तान को तुम्हारे यह पाप न-जाने कब तक भुगतने होंगे!'

तभी उसने देखा, पास ही कुछ और है जो तरबूज-सा खिला पड़ा है, और लालू भूत-सा बन रहा है। उसने लालू को गौर से देखा, फिर बच्चे के नन्हे-से शव के पास दौड़ गया। झुका—बालक की आँखों में खून न आया था, उसमें विश्वास भरा था, उसमें विश्वास भरा था, और वे हँसने को उद्यत थीं!

वह एक-दम उछलकर खड़ा हो गया, आँखें अंगारा हो गईं, फिर गीली हो गईं, और हौलनाक आवाज में कहा। वह आवाज गूँजती थी, पर खोखली थी, हुक्म से अधिक उसमें दिल की चोट थी, तीखी से अधिक वह भारी थी।

—'ओ, लालू के बच्चे, बदनसीब! सुनता है? इस बच्चे के माँस की चटनी फिर घर जाकर बनाना, बड़ी अच्छी लगेगी, तू तर जायगा जनम-जनम को।' फिर महिला के पैरों की ओर संकेत करते हुए कहा—'अरे, आँखें क्या फाड़ता है, अभागे! इस माई के पैरों में गिर—शायद कुछ भला हो जाय!'

बच्चे की माँ के सामने बच्चे का शव पड़ा है—आह!—लाल-लाल लहू कैसा गाढ़ा उसमें से निकलकर जम गया है! नन्हे-से सिर में इतना सारा लहू कहाँ से आगया? अभी छाती से चिपककर पानी माँग रहा था, अभी पत्थरों पर पड़ा सिर फोड़कर दिखला रहा है!—माँ मानों जब तक रहेगी, यहीं खड़ी-गड़ी, इस खिले-सिर को देखती रहेगी।

लालू ने सिर माँ के पैरों में किया, पर आँसू न ला सका। तब चौधरी ने रहमत को ललकारा, जिसके मुँह पर पाप साफ लिखा था—

'और, क्यों रहमत, तुझे ख़ुदा से ख़ौफ़ नहीं है ? नहीं जानता, ऐसे कामों से तुझे क्या मिलेगा ? चल, तू भी माई से माफी माँग ले, नहीं तो कहे रखता हूँ। तुझे एक मिनट को चैन नहीं मिलेगा।'

किन्तु रहमत को इसमें देर लगी। चौधरी को आवेश हो आया। उसने रहमत का सिर पकड़ माँ के पैरों में डाल दिया। रहमत का सिर तो पैरों में गिरा, पर दिल दहक उठा। पर चौधरी का खौफ था,—बोला नहीं, चुप रहा।

अन्त में चौधरी स्वयं उस महिला के पैरों पड़ कर रोया।— 'उठो माई, इस पाप की एवज हम-सब और हमारा यह हिन्दुस्तान देगा। पर पाप को जितना कम कर सकूँगा, जरूर करूँगा! माई, मेरे घर चलो। अब भी हैं, जो सच्चे हिन्दुस्तानी हैं, जो स्त्रियों की और माँओं की कद्र जानते हैं, और जो अतिथि की सेवा करना जानते हैं।'

तब माँ, मानों स्वप्न में, चौधरी के पीछे-पीछे चल दी। चौधरी ने मुड़कर सब से कहा—

'चौधरी को तुम सब जानते हो। कभी ऐसा अब मत करना। तुम जानते नहीं, हमारी लड़ाई कैसी है ? ऐसी बातों में हमारी हार है। मेरे लिये जीत और हार और कुछ नहीं; यही जीत और यही हार है। तुम जानते नहीं, चौधरी एक फिरंगी-औरत को बचाने में मर जायगा—और इसी में उसकी जीत होगी। जाओ, पर याद रक्खो मेरी बात!'

: ६ :

कैसे बहादुरशाह पकड़ा गया, कैसे उसके दो बच्चों का खून पिया गया—अलंकार में नहीं चुल्लुओं में पिया गया; किस तरह अँग्रेजों की अमलदारी फिर हो गई, फिर किस तरह शान्ति फैली; और किस तरह फाँसियाँ दी गईं, और किस तरह और बहुत से ढके और उघड़े काम किये गए—इन सब बातों से हमारा सम्बन्ध नहीं।

लेकिन वह इंगलिश महिला चौधरी के घर स्वस्थ रहीं। उनकी सेवा में किसी तरह की कमी या उपेक्षा नहीं हुई; और चौधरी ने अपनी तलवार में जंग भी न लगने दी। अपने अतिथि-सत्कार, और अपनी तलवार, और अपने बाजुओं की ताकत और अपनी दृढ़ता का चौधरी ने पूरा उपयोग किया।

किन्तु अँग्रेज फतहयाब हुए और चौधरी मरा नहीं। वह मौत को प्यार नहीं करता था। प्यार करता था वह ज़िन्दगी से, और ज़िन्दगी की उपयोगिता से। रास्ते में मौत आती थी तो वह मानों उसकी ज़िन्दगी का ही एक काम था।

दिल्ली में अँग्रेजों का शान्तिस्थापना का काम चल दिया—जो शान्ति फाँसी के तख्तों के बराबर और खून से सानकर स्थापित की जाने वाली थी—और चौधरी अपने उसी···पुरे में, उसी दृढ़ता, उसी प्रतिज्ञा को लेकर रहने लगा।

लेकिन घर में जाकर कहा—

'माई, तुम्हारे लोग अब दिल्ली में हैं। यहाँ जब तक मैं हूँ, तब तक तुम्हें कुछ फिकर नहीं। पर मेरा ही क्या ठीक है? तुम्हारे लोग मुझे दुश्मन समझते हैं, मैं उन्हें दुश्मन समझता हूँ। इससे अच्छा है तुम वहीं चली जाओ!'

महिला ने बड़े हर्ष से यह स्वीकार किया ।

एक रोज़ रथ में बैठाकर उस महिला को चुपचाप 'सिविल-लाइन्स' में लाकर छोड़ दिया गया।

उसी रात को चौधरी का मकान घेर लिया गया और वह गिरफ्तार कर लिया गया।

: ७ :

एक ने कहा—'ओह, माई डियर !'

दूसरे ने कहा—'डियरी, माई डार्लिंग !'

और दोनों बिछुड़े मिले।

कर्नल को खोई पत्नी मिली। जिसे क़ब्र में गाड़ चुका था, वही मानों क़ब्र से उठकर चली आई । और पत्नी को गया प्राण मिला।

इस सुखद मिलन में प्रेम का ज्वार उमड़ा, और एक बार सब कुछ—वह बच्चे की स्मृति, और चौधरी की कृतज्ञता भी—उसी में डूब गई।

इस दृश्य को यों-ही छोड़ दो—छेड़ो मत । इन दुखियों को मिल लेने दो, हँस लेने दो, रो लेने दो, अपनी-अपनी सुना लेने दो।

इतने तुम हमारी एक बात सुनो। कर्नल अब कर्नल नहीं हैं। एक मार्शल-कोर्ट के मजिस्ट्रेट हैं, न्यायाधीश हैं।

राजधर्म का पहला नियम है कि शासन से न्याय अलग होकर, ऊपर होकर रहे। शासन की निरंकुश होने की ओर वृत्ति होती है। अधिकार-मद है । अधिकार की आदत अधिक अधिकार माँगती है । न्याय उस पर अंकुश रखे। शासन न्याय के प्रति उत्तरदायी रहे, और शासन न्याय की माँग और न्याय के हुक्म को पूरा करे

और उसके नियम की मर्यादा में रहे। राजतन्त्र के तन्त्रियों के निमित्त राज्य के सभा-गुरु (Legislators) विधान बनाकर देते हैं। शासक, शासित, दोनों के लिए वह विधान एक है, एक-सा है। और वह विधान, फिर न्याय-संस्था के संरक्षण में आ जाता है। वह संस्था आँख रखे कि मर्यादा टूटे नहीं, शासक-शासित में स्थान-भेद के अतिरिक्त मनुष्य-भेद न होने पावे, मानवीय समानता उनमें बनी ही रहे, शासन दायित्व रहे, वह हक़ न बने। आदि।

किंन्तु, यह साधारण बात है। विशेष बात यह है कि—'आपत्ति-काले मर्यादा नास्ति।' जब मर्यादा नहीं रखनी हो, तोड़नी हो, तब आपत्तिकाल बुला लेना चाहिए। शक्ति के लिए यह सहज है। बुलाने की बात दूर नहीं है। मर्यादा तोड़ी, और कहा, आपत्तिकाल था। आपत्काल न होता, तो मर्यादा टूटती ही कैसे ? टूटी, इससे प्रमाणित है कि टूटनी चाहिए थी।

यह तर्क शक्ति का है। और आपत्ति में शक्ति का राज्य न हो तो धरती विध्वंस हो जाय। इस शक्ति-राज्य का नाम है, 'मार्शल ला'।—अर्थात्, 'कानून, शक्ति की मुट्ठी में'। तब न्याय को आले में बैठा दिया जाता है, और राजधर्म, नीतिधर्म आदि-आदि धर्म-शास्त्रों को भगवद्भजन करने दिया जाता है।

और, ऐसा कोई करता नहीं, ऐसा करना पड़ ही जाता है। 'चाहिए' का प्रश्न नहीं है। नहीं चाहिए, यह कौन नहीं कहता; पर शांति का उत्तरदायित्व कभी-कभी माँगता है—लहू बहाओ। सो उन्हें लहू बहाना पड़ता है। हम-तुम शांति के महान् उत्तरदाताओं की दिक़्क़त क्या जानें ? इससे हमें चाहिए, हम कुछ न बोलें, अस्तु।

तो ऐसा ही आपत्काल था। इसलिए कर्नल एक मार्शल-कोर्ट के मजिस्ट्रेट की कुर्सी पर हैं। जिन्होंने अब-तक तलवार का ही काम

किया है. उनके हाथ में अब न्याय की क़लम आई है। अब-तक मारने का काम किया था, अब जिलाने का काम आया है; क्योंकि वास्तव में न्याय का काम जिलाने का है। न्याय दया के समीप है, क्रूरता से उतना नहीं। लेकिन, मुमकिन हो सकता है, ख़ास हालतों में न्याय का यह काम ही बदल जाय, जिलाने की जगह और-कुछ हो जाय। शायद यही वजह थी। तब तो हमें यह मान लेना पड़ेगा कि कर्नल उपयुक्त न्यायाधीश थे।

अब तक शायद पत्नी को या रिश्तेदारों को खत लिखने के अतिरिक्त कलम को इन्होंने ज्यादा नहीं चलाया था, ज्यादा नहीं तंग किया था: न दिमाग को ही सोच-सोच कर परेशान किया था। अब जो सूक्ष्म-निर्णय की जोखम का यह काम सिर पर आ गया, तो कर्नल ने उसे भी उसी घाट उतारना शुरू किया। अब तक तलवार लेकर कर्नल ने ऐसी अपनी आदत डाली थी,—आया, काटकर फेंका, ख़तम; फिर दूसरा. . . यही आदत उन्होंने इस काम में भी, बिना रोक-हिचकिचाहट बरती।

: ८ :

इतनी बात कहने के बाद अब वहाँ पति-पत्नी के पास चल सकते हैं। ज्वार उतर चुका है, और अब बातों में बहुत रस या बहुत आह नहीं है। पत्नी ने कहा—

'They've killed, butchered, my child—our child;—don't spare them, my dear.'

('उन्होंने मेरे—हमारे बच्चे को मार डाला है। उन्हें छोड़ना मत।')

'Nor I will, dearie.'

('न—कभी नहीं ।')

'There my, love Thats' good !'

('बस-बस यही तो, कैसे अच्छे हो तुम !')

जब ऐसा प्रोत्साहन प्राप्त हो, तो काम तेज़ी से निकले—इसमें अचरज क्या ?

उन्हीं शीघ्रता-वादी प्रोत्साहन-प्राप्त कर्नल-मजिस्ट्रेट की हाज़िरी में आप उपस्थित हैं।

पते-नाम-धाम की रूखी कारवाई हो चुकी है । अब लालू हाजिर हुआ है । हाजिर तो हो गया, पर ठूँठ-सा खड़ा रह गया । चौधरी को देखा,—फिर बोल न निकल सका ।

इस पर न्यायमूर्ति के मुख से लालू के लिये जो शब्दावली मुखरित हुई, उसे हम यहाँ न दे सकेंगे । पर लालू की जीभ में से जैसे किसी ने जान खींच ली हो—वह बोल नहीं सकता । न्याय-मूर्त्ति ने आठ बेंत का हुक्म सुनाया ।

तब आया रहमत । बड़ी हिम्मत बाँधकर बोलने लगा—'अजी, एक मेम साहब को बेइज्ज़त···'

'रहमत के बच्चे, झूठ···!'—चौधरी ने दहाड़ा । तभी हथ-कड़ियाँ मज़बूत कर दी गईं, दो-एक सिपाहियों ने जंजीरों में झटके भी दिये, किसी ने चौधरी के बदन पर अपनी ताक़त का भी ज़ोर आज़माया, और जज साहब ने फ़रमाया,—'चुप, सू. . .'

लेकिन जंजीरें कितनी-ही कसलो, और गाली कितने ही गर-जालो, रहमत अब बोल सकता नहीं ।

'क्या है, बोलता क्यों नहीं ?'

'कुछ नहीं, हजूर ।'

पाँच बेंतों का इनाम इसे भी बोल दिया गया।

तब चौधरी ने कहा—'क्या कहलवाते हो इन बेचारों से—जो है, सो मैं कहता हूँ। बात कुछ बड़ी भी तो नहीं है। मैं तुम लोगों को यहाँ नहीं चाहता। तुम लोगों का राज मैं नहीं मानता। यह तुम्हारी मजिस्ट्रेटी ही नहीं मानता। तुम अंग्रेज हो, अपने देश में रहो। हम हिन्दुस्तानी हैं, हम यहाँ रह रहे हैं। तुम्हारे यहाँ जगह नहीं है, कम है—अच्छी बात है, तो फिर यहाँ रहो; पर आदमियों की तरह से रहो। यह तुम्हारी सिर पर चढ़ने की आदत कैसी है? सो ही हम नहीं चाहते। ऐसे जब-तक रहोगे, तब-तक हम तुम्हारे खिलाफ़ रहेंगे। भाई बनकर रहोगे, बराबर-बराबर के, गोरे-पन की ऐंठ में न रहोगे तो हम भी तुमसे ठीक बरतेंगे—और फिर देखें कौन तुम्हारा बाल भी छू सकता है। पर वैसे?—न, दम-में-दम है तब-तक तुम्हारे दुश्मन रहेंगे। बस, और क्या कहलवाते हो?'

'वह मेम का बेइज्जटी. . .'

चौधरी ने टूट कर कहा—'बस करो, बस। बस तुम अभी हिन्दुस्तान की आन नहीं समझते। अपने-सा ही सब को समझते हो—तभी ऐसी बात कह गए। अब से ऐसा न कहना—ख़बरदार, नहीं तो ख़ता खाओगे। हिन्दुस्तानी, सच्चे हिन्दुस्तानी, कपूतों की बात छोड़ दो, स्त्री पर कभी हाथ नहीं उठाते, स्त्री को माँ समझते हैं। समझे, हे अँग्रेज, खूब समझ लो!'

तब उसे बच्चे की उस माँ की याद आगई। सोचा—कह दूँ उस बात को। अगर सच न समझेगा तो अभागा है, सच समझेगा तो अच्छा ही होगा। लेकिन न. . .ऐसी बात क्या याद करने

की होती है ? की नहीं, कि कुयें में डालीं—याद भी नहीं, ध्यान भी नहीं। इसलिये उसने आगे कुछ न कहा।

तो अब दो बातें हुईं ; बेइज्ज़ती की बात और बलवे की बात। पहली पर पच्चीस कोड़े, दूसरी पर फाँसी।

फाँसी ही है तो कोड़े क्यों ?—पहले हम भी चकराये। फिर समझ में आगया कि अलग-अलग जुर्मों की दो सजाएँ हैं। फाँसी-ही सिर्फ हुई तो पहली सजा के दण्ड के बिना ही मुजरिम चला गया और कानून का पेट नहीं भरा। इसलिए कानून के पेट के के लिये दोनों सजाएँ अलग-ही-अलग दी जाना जरूरी हैं। ठीक, बहुत ठीक !

अभी बहुत-सों को निपटाना है, फिर जज साहब को टेनिस खेलने जाना है, और वह इन्तजार करती होंगी। इसलिए चौधरी को तुरन्त ले जाया गया।

: ६ :

जैसे बहुत बड़ी दावत होती है न ! कढ़ाये चढ़ते हैं, झटपट-झटपट काम होता है, सब-के-सब काम में लग जाते हैं। पूरियाँ बिल पाई नहीं कि कढ़ायों में छोड़ी गईं, और सिक नहीं पातीं कि फिर और ! कढ़ाये गर्म-ही रहते हैं। वैसे-ही अब शान्ति-स्थापना होगी। इसके उपलक्ष्य में यमदेव की खूब बड़ी दावत की जा रही है। खूब चुस्ती से काम हो रहा है। आदमी पकड़े नहीं गये, कि चढ़ाए नहीं गए। एक-ही साँचा है—फाँसी। आया कि उसी की मोहर लगा दी। अब पेड़ों पर सैकड़ों फाँसियाँ चढ़ी हुई हैं। ख़ाली हो पाती हैं कि और आदमी पहुँचते हैं। पहुँचे कि चढ़े। खूब गर्म बाज़ार है। मालूम नहीं, यम-महाराज के भोज की यह तैयारी कब-

तक चली। अगर यम-देव सन्तुष्ट न हुए हों, तो हम चुनौती देकर कह सकते हैं, भोज करने-वालों की इसमें ज़रा त्रुटि नहीं।

कोड़े लगना देखा है ? नहीं देखा, तो देखने की एक ख़ास चीज़ नहीं देखी। देखिये—

वह टिकटी है। और वह चौधरी टिकटी पर बँधा है। हाथ ऊपर और पैर नीचे चौड़ रहे हैं। दिगम्बर है। मुँह उसका हमसे दूसरी ओर है। है तो हो, पर हम जानते हैं, वह जरूर वैसा-ही है, जैसा हमेशा रहता है।

कुछ दयालु लोग और कुछ दर्शक लोग दृश्य को देखने और मज़ा लेने चारों ओर इकट्ठे हैं।

कोड़े और कोड़े लगाने वाले में भी विशेषता है। कोड़ा कई रोज से भीगा हुआ है, आजमाया भी हुआ है। यह नहीं हो सकता कि चोट कच्ची बैठे, या कोड़ा टूट जाय! अब वह आदमी भी साधारण नहीं है। इस हुनर का काफ़ी अभ्यस्त है। पिछले कई रोज से अभ्यास ताजा करता रहा है। ऐसे पैंतरे बदल कर, ऐसे सपाक-से कोड़ा मारता है, कि क्या मजाल जो गलत बैठे, और भरपूर जोर से न बैठे !!

वह देखिए, ठीक पैंतरों से वह बढ़ा, मानो टूर्नमिंट में एक प्रतिद्वन्द्वी है। मानो अपने खेल के दाँव-पेच दिखा रहा है। बढ़ा,—बढ़ा,—वह आया बढ़ के। कोड़ा बराबर हवा में सनसना चक्कर खा रहा है। कैसा सर्राटा है—जैसे डसने से पहले साँप की जीभें लम्बी हो कर सर्सराती चक्कर काट रही हों! देखते हैं न! वह खुला नितम्ब-भाग आप ?—वह देखिए—

वे तीनों-चारों जीभें आईं, माँस के अन्दर मानो जा घुसीं। अब घुस कर बाहर निकल आई हैं, और वहीं जोंक जैसी चिपट

बैठी हैं ! लेकिन नहीं, आप भूलते हैं। कोड़े वाला तो कोड़ा ले कर चला गया है, वहीं अपने प्रस्थान के स्थान पर, यह उभरन तो खाल की ही है। खाल ही नीली पड़ कर उभर आई है।

इसी तरह कोड़े पड़े। ख़ून निकल आया—उछल कर पड़ा कोड़े वाले के मुँह पर। कुर्ते की बाँह से उसने उसे पोंछ लिया। कैसा वीर है !

तब दयालु सज्जनों की दयालुता का अवसर आया। फिनायल से भीगा कपड़ा उन्होंने आहत भाग पर बिछा दिया; जिससे ख़ून उछटे नहीं, और घावों को जल्दी आराम हो जाय।

बस, बहुत हुआ। आइये, चलिये। हमारा जी खराब होता है—हम नहीं ठहर सकते।

हाँ, क्या पूछा ?—बेहोश हो जाय तो ? तो कुछ नहीं। दयालुओं की दयालुता इसे अपने उपचारों-द्वारा शेष कोड़े खाने के लिये फिर होश में लावेगी !

अब आप कहते हैं, यह सब व्यवस्था बड़ी पक्की-पूरी है ! है न ? कचाई कहीं न मिलेगी।

: १० :

सोफे पर आधा लेट कर पति ने पूछा—'तुमने बताया नहीं, तुम कहाँ-कहाँ रहीं।'

गुलूबन्द की बुनाई की सलाइयों को फन्दे में अटका छोड़ कर, आँखें ऊपर उठा कर पत्नी ने कहा—'तुमने भी तो नहीं बताया।'

इस पर पति ने अपनी सारी बीती कह सुनाई। फिर पत्नी ने कहा—'मुझे तो ज्यादा नहीं कहना। तुम यहाँ नहीं मिले, तो मैं तुम्हारी तलाश में चली। चलते-चलते...पुरे में पहुँची। ख़ैर

मानो, मैं वहाँ बच गई। ओह, बच्चा तो. . .बच्चा तो वहीं पटक कर मार दिया गया ! मेरा न-जाने क्या हाल होता, पर चौधरी. . .।

'चौधरी ?'—उत्सुक प्रश्न-वाचक स्वर में पति ने दोहराया।

'हाँ चौधरी. . ., . . .पुरे का।'

'. . .चौधरी, . . .पुरे का ?'

'हाँ—तो ?'

'चौधरी !. . .उसने क्या किया ?'

'उसने मुझे बचाया। जिन्होंने मेरे साथ ठीक सुलूक नहीं किया था, उन्हें मेरे पैरों डाला। खुद मेरे पैरों गिर कर मुझे माँ कहा, और अपने यहाँ रखा; बड़ी अच्छी तरह रखा।'

'ओह !'

'क्यों ? क्या बात है ?'

वह क्या बताये ? कुछ नहीं बता सकता।

'बोलते नहीं ? तुम्हें हो क्या गया ?'

तब बड़े क्षोभ से उसने कहा—

'ओह ! मैंने उसे फाँसी दे दी !'

'फाँसी ?'

वह चीख़ मार कर मूर्छित हो पड़ी।

: ११ :

फाँसी की जगह वह आई है। लाशें ठेलों पर लादी जा रही हैं—जैसे बोरे लादे जाते हैं, उतनी ही परवाह या लापरवाही से; बल्कि उपेक्षा-भाव ज्यादा ही है, क्योंकि लाशें बोरों से ज्यादा हैं।

महिला ने हुक्म दिया—'ठैरो !' अँग्रेज़ी महिला का आज्ञोल्लंघन—उस समय कौन था, जो कर सके ?

काम रुक गया। महिला ने एक-एक लाश देखी। आख़िर चौधरी का शव मिला। उसे अपनी गाड़ी में रक्खा। बँगले पर आई। लाश देखी—आँखें निकली हुई हैं, लहू से बदन लाल और चिपकना हो रहा है, पर चेहरे पर अब भी सिकुड़न नहीं है, जैसे उसकी आत्मा में एक भी सिकुड़न नहीं थी।

बँगले पर लाश को ख़ास कमरे में ले आया गया। ईरानी कालीन ख़ून के धब्बे से लाल होता जा रहा है, इसकी उसे परवाह न हुई। कहा—

'जॉन! सुनो। इधर आओ। इसकी क्रिया ठीक तौर पर करनी होगी, और सब खर्च तुम्हें करना होगा। सुना? करोगे?'

जॉन ने सम्मति-सूचक सिर हिला दिया।

'अच्छा, अब इनके पैरों में सिर नवाओ! यह देवता आदमी था।... घबड़ाओ नहीं, ज़िन्दा होता, तो मैं नहीं कहती। मर गया है, तो पूज्य से अधिक है। विश्वास रखो, उसके पैरों में सिर नवा रहे हो, जो तुमसे ऊँचा था, बड़ा था, पक्का था, और परमात्मा को प्यारा था।'

कर्नल ने सिर पैरों में नवा दिया।

'जॉन! अब मैं जाती हूँ। औरों के पाप का प्रायश्चित्त इसने किया, तुम्हारे पाप का प्रायश्चित्त मुझे करना होगा। जाती हूँ, अच्छा है, चले जाने दो। रोकोगे, तो भी न रोक सकोगे।'

कर्नल ने देखा— कुछ है, जो उससे नहीं दबेगी, जिसके खिलाफ़ बोलने की उसे हिम्मत नहीं होगी, जो कुछ देवी-सी है, और जिसके सामने सिर नवा लेना ही कर्नल का धर्म है। वह चुप हो रहा। वह चली गई।

: १२ :

जहाँ चौधरी का शव जला था, वहीं जमना के किनारे कई साल तक एक झोपड़ी रही। कहते हैं, वहाँ एक पगली तपस्विनी रहती थी, जिसका काम कभी हँसना और कभी रोना था। इस हँसने और रोने का कोई क्रम न था। वह किसी से नहीं बोलती थी। मालूम नहीं, कैसे रहती थी और क्या खाती थी! वह रंग में इतनी सफेद थी कि लोग उसे यमुना-तीर की संरक्षिका प्रेतात्मा समझ, उससे दूर-दूर रहते थे।

तब एक दिन वह झोपड़ी भी नहीं रही, और न वह पगली-ही फिर देखी गई!

निर्मम

: १ :

अभी सिंहगढ़ चार कोस है। दस कभी के बज चुके। ठीक दस बजे तीनों घुड़सवारों को शिवाजी की हाज़िरी में सिंहगढ़ पहुँच जाना चाहिए था।

शिवा की बात टलती नहीं, टलती है तो अनर्थ हो जाता है। समय और कार्य का विभाग ही उसका ऐसा नपा-तुला होता है कि ज़रा-से काम की ज़रा ढील और ज़रा देर सारी स्कीम को ढा देती है; कार्य-सिद्धि (Achievements) की शृङ्खला को ही विशृङ्खल कर देती है। और शिवा वह व्यक्ति है जो सब कुछ सह सकता है, असफलता नहीं सह सकता। जिसने फ़ेल होना जाना ही नहीं। जिसके जीवन की डोर विजय-विजय-विजय के मनके पहनकर वह माला बनकर ही दम लेगी, जिसे इतिहास के अनुशीलन करने वाले साहस-प्रार्थी व्यक्ति फेर-फेर कर धन्य होंगे। जो चाहता है, जिसमें हाथ लगाया है, वही यदि पूरा होने से रह जाय तो शिवा शिवा नहीं। कौन है, जो उसे पूरा होने से रोक ले। कहीं भी यदि उसे

असिद्धि मिले, तो मानो वही उसकी मौत होगी। वह उस धातु का बना है जिसके अलौकिक वीर बने होते हैं। जिसका अलक्षेन्द्र बना था, जिसके अशोक, सीज़र, शार्लमान बने थे, और जिसका नेपोलियन बना था। जो धातु मुड़ना नहीं जानती, टूट भले ही जाय।

तीनों घुड़सवार जो घने जङ्गल, घने अँधेरे और घने कुहरे को, जमी हुई सन्नाहट और वैसी ही जमी हुई शान्ति को चीरते हुए, तेज़ी से आगे बढ़ रहे हैं, शिवाजी के इस अकम्प शिवा-पन को मन-ही-मन, अनुभव-द्वारा, खूब जानते हैं। थक रहे हैं, हाँफ रहे हैं, बढ़े चले जा रहे हैं, आपस में बोलने का भी अवकाश नहीं ले रहे हैं,—यह देखने कि 'अब क्या बीतती है'। वह, और हम भी, आत्मा की शपथ खाकर कह सकते हैं कि उन्होंने पूर्ण तत्परता, चुस्ती और मुस्तैदी से अपना कर्तव्य निबाहा है।—किन्तु दस तो बज चुके हैं।

बीजापुर की ख़बर लाने के लिए उन्हें भेजा गया था। त्र्यम्बक उनका नेता है, घोरपड़े और शिवराव उसके सहायक। त्र्यम्बक शिवा का बहुत ही अपना आदमी है, जोखम और विश्वास की जगह उसे ही भेजा जाता है। उसे भेजकर शिवा मानों उस सम्बन्ध में बिल्कुल निश्चिन्तता प्राप्त कर लेता है।

त्र्यम्बक बोला—'महाराज यदि न मिलें—?'

यह सम्भावना तीनों ही के मनों में थी, किन्तु इतनी अनिष्टकर थी कि जैसे वह उसे स्वीकार करने से डरते थे। शिवराव ने कहा—'ऐसा नहीं होगा।'

घोरपड़े ने भी कहा—'महाराज, हमारे संवाद के लिए अवश्य प्रतीक्षा करेंगे।'

किन्तु त्र्यम्बक को सन्तोष नहीं मिलता। इन मुसीबत के दिनों

में जब चारों ओर फैले प्रत्येक क्षण और प्रत्येक पग में विपत्ति और विजय है, जब समय का ठिकाना नहीं है और ठिकाने का भी ठिकाना नहीं है, तब नियत दस बजे के बारह बज जाना कोई छोटी बात नहीं। वह इसी भारी भूल के बोझ और मनस्ताप के नीचे मानों पिसा जा रहा है। उसने कहा—'घोरपड़े, मालूम नहीं क्या हो गया हो। सन्देह नहीं, दस बजे महाराज वहाँ अवश्य होंगे, पर अब-? .... बीजापुर में ही हमको समाचार मिला था कि सिंहगढ़ आशङ्का से खाली नहीं। न जाने किस पल धावा हो जाय?'

घोरपड़े ने उत्तर में केवल घोड़े की चाल और तेज़ कर दी।

तीनों बढ़े चले। चुप—चारों ओर सन्नाटा-भरी चुपचुपाहट थी। मानों नीरव प्रकृति, इन तीनों के भीतर उबलती हुई आशङ्का को अपने व्यंग-मौन से और भी तीखी बना देना चाहती हो।

सिंहगढ़ पास आ गया। अँधेरे में से उसके बुर्ज के कंगूरों का आकार धीमा-धीमा चीन्ह पड़ता था। तभी कोई उनकी राह में आया, जिसने पूछा—'कौन?'

इस 'कौन' का स्वर और लहजा एकदम सशङ्क कर देने वाला था। फिर भी त्र्यम्बक ने दहाड़ा—

'ॐ, हर हर!'

उस व्यक्ति ने झट से चिल्ला दिया—'मारो काफ़िरों को' और दल-के-दल दुश्मन उस अँधेरे में से फट पड़े।

युद्ध छिड़ा। मराठे मराठे थे, शिवाजी के साथी थे,—यानी वीर थे, और साथ ही होशियार भी थे। फिर अँधेरे का संयोग मानो भाग्य ने ही सामने ला धरा था। तीखी मार भी वे देते रहे, और पीछे अपना रास्ता भी बनाते रहे।

अपनी हानि और मराठों के पीछे हटने को देख दुश्मनों ने सन्तोष ही मान रखना ठीक समझा।

वे तीनों निरापद तो हुए किन्तु सिंहगढ़ तक पहुँचने का इरादा अब भी उनका पक्का ही रहा। सन्देह नहीं, उन्हें जगह-जगह ऐसी-ऐसी ही मुठभेड़ करनी होगी,—किन्तु क्या इससे वह शिवा की आज्ञा से मुड़ें ?

मतलब कि कभी इधर और कभी उधर, इस तरह चारों ओर से, सिंहगढ़ पहुँचने का यत्न करते रहे। बीसियों हमले उन्हें सहने पड़े, और बहुत आहत हो गये। इधर रात भी बीत चली। किन्तु यत्न छोड़ें, तो मराठे कैसे ?

अन्त में थकान से चूर हो गये थे, लोहू से लुहान हो गये थे, फिर भी सिंहगढ़ पहुँचने की तदबीर में लगे थे—यद्यपि बड़ी हताशा के साथ और जीवन-विसर्जन के पूर्ण विश्वास के साथ। तभी एक खेतिहर से पता मिला, शिवाजी सिंहगढ़ में नहीं है।

रात होते ही गढ़पर अचानक धावा हुआ था। दस, साढ़े-दस, ग्यारह बजे तक, कई गुनी शत्रुशक्ति के सामने शिवा गढ़ को सम्भाले रहे और ठहरे रहे थे। बहुतेरा कहा गया कि वह यहाँ से चलें। किन्तु ग्यारह बजे से पहिले उन्होंने वहाँ से टलना कभी स्वीकार न किया। भेदिये चारों ओर तैनात रहते थे। जब ग्यारह बजे का यह समाचार लाकर उन्होंने शिवा को दे दिया कि एक मील तक त्र्यम्बक नहीं है, तब उन्होंने गढ़ छोड़ने में फिर क्षण-भर देर न की।

त्र्यम्बक और उसके साथी इस सूचना पर, अपने को प्रत्येक अनिष्ट और हर-तरह के दण्ड के लिए तैयार करके, लौट चले।

: २ :

जंगल में एक ऊँची-सी टेकड़ी पर शिविर पड़ा है। किन्तु शिवा उससे अलग, बहुत दूर, आत्म-त्रस्त, आत्म-ग्रस्त और आत्म-व्यस्त भाव से कुछ सोचता हुआ टहल-सा रहा है। शिविर के काम से निबट चुका है, सब ताकीदें दे चुका है,—इस तरह अवकाश निकालकर अब अपने से निबटने का काम वह, यहाँ सिर झुकाकर टहलता-टहलता, कर रहा है। सिद्धियों, सफलताओं, और विजयों से ठसा-ठस भरे हुए अपने व्यस्त जीवन में से, वह इसी तरह कभी-कभी कुछ घड़ियाँ चुराकर आत्मनिमग्नता पाया करता है। इन बहुमूल्य निठल्ली घड़ियों में, जो बड़ी कठिनाई से मिल पाती हैं और बहुत थोड़ी देर ठहर पाती हैं, मानों उसके जीवन की सच्ची अनुभूतियाँ, कसक उठने वाली स्मृतियाँ और प्रज्वलित कर देने वाली चिन्ताएँ मानो जीवन की समग्र चेतनता,—अपने डोरे समेटकर आ इकट्ठी होती हैं। तब वह डोरे फैलते हैं, उलझते हैं और सुलझते हैं, किन्तु उतने सुलझते नहीं जितने उलझ जाते हैं। इन उलझनों में फँस कर शिवा बड़ी व्यथा पाता है। सुलझा तो सकता नहीं, क्योंकि सुलझाने का अवकाश उसके पास बहुत थोड़ा है, इसलिए उलझते रहने में ही वह थोड़ा आनन्द ले लेता है। यह व्यथा जो मजे से भरी है, और यह मजा जो टीस-सा चुभता है, यहीं, इसी में पड़कर शिवा को ज्ञात होता है जैसे जीवन के रस का थोड़ा स्वाद मिल रहा हो। नहीं तो उस खोखले, कृत्रिम, कर्त्तव्य-बद्ध, राजापन-प्रसिद्धि और प्रभुत्व के जगमगे ज़र्क़-बर्क़ आवरण पहने, रूखे जीवन से उसे रह-रहकर उकताहट छूटती है।

उसे बहुत-कुछ स्मरण हो आती है, वह माँ की गोद, जो अब

नहीं रह गई है। उसके स्थान पर सिंहासन आ गया है। निर्जीव पत्थर का यह सिंहासन सजीव प्यार के माँ के उस घोंसले की, मानों अपने मद में, खिल्ली उड़ाता है—कम्बख्त सिंहासन से शिवा के प्राण मानों एकबारगी ही चिढ़ उठते हैं। यह सारी प्रसिद्धि, वैभव और मनुष्यता का व्यङ्ग करते दीखते हैं।

उसे स्मरण हो आता है वह रक्त, जो उसने बहाया है। वे जानें, जो उसने ली हैं। उससे भी अधिक वे जानें, जो उसके लिए गई है। जिन्हें उसने मारा है, और जो उसके लिए मर गये हैं, उनके बिलखते हुए कुटुम्बी और उन कुटुम्बियों के अविरल ढुरकते हुए आँसू,—इन सबकी कल्पना, स्मृति और चित्र भीतर से ऊमड़ते हुए और उसके जी को मरोड़ते हुए उठते हैं। उसे ज्ञात होता है, मानों उन सबकी हत्याओं और उन दुखियों के दुखों को कुचले हुए खड़ा है उसका राजा-पन!

और स्मरण हो आता है वह हृदय का वेग जो बच्चों को देख-कर उमड़ा पड़ता है। वह बाला, जो उसे बचाते-बचाते मर गई, इसलिए कि वह उसे अपना हृदय और सर्वस्व देना चाहती थी। उसने उस हृदयोत्सर्ग के अर्घ्य के अर्पण को स्वीकार किया और कुचल दिया। और वह, जब औरङ्गजेब के यहाँ गया था, जो अचानक दीख गई थी और मिल गई थी,—जिसका प्रणय, वंश और धर्म, सभ्यता और समाज के सब बन्धनों को लाँघकर उस तक पहुँचता है और इतना कि जिसके रस में वह डूब जाय! वह निसर्ग-शुद्ध प्रणय-रस की धारा उसे याद आती है, जिसे वह छू नहीं सकता!

और सामने दीखते हैं पेड़, जो लताओं को चिपटाये झूम रहे हैं, हँस रहे हैं, मानों कह रहे हैं—'तुम बड़प्पन की भूख में रहो,

इधर हम तुम पर हँसते हैं।' और फिर मानों अपना मुकुट झुका-कर, फुसलाकर, चुपके से आवाहन दे जाते हैं—'व्यर्थता में न पड़ो, आओ, हमारे साथ जीवन में निर्द्वन्द्व खेलो। हरी-घास, छोटे पौधे, उभरा हुआ पहाड़, भागते-खेलते बादल, और उनके पीछे धूप की मुसकान से मुसकाता नीलाकाश, फुदकती चिड़ियाँ और चहकते पक्षी—सब, मानों अपने जीवन की चुहल दिखाते हुए व्यंग कर रहे हैं—'यह है जीवन!'

शिवा इस रस को देख रहा है। देख-देखकर, क्योंकि इसे वह चख नहीं सकता, बड़ा झुँझला और कुढ़ रहा है। कैसा बेलाग बेदाम बिखरा पड़ा है यह रस!

उसकी फतहों की सूची उसे निकम्मी जान पड़ती है। सफल-ताओं की लम्बी तालिका उसके मन को बोध नहीं दे पाती।

जब उसका मन हार जाता है, स्मृतियाँ दबा लेती हैं, और ऐसी चिन्ताएँ अभिभूत कर लेती हैं, तब उसके एक-मात्र त्राण समर्थ गुरु रामदास याद पड़ते हैं। वह उनकी शरण गहेगा। अब के इस यश, वैभव, राजत्व, लड़ाई और हिंसा के मार्ग से मुक्ति पाने की प्रार्थना करेगा। साधारण बन जाने और प्रेम करने की छुट्टी अबके वह भी गुरु से माँग लेगा। व्यस्तता से वह तङ्ग आ गया है, कहेगा—'गुरु, बहुत हो गया, अब मुझे छुट्टी दो। अब मैं स्नेह में नहाऊँगा और जीवन में खेलूँगा।'

मन के इसी ज्वार को जरा शांत करने लिए वह टहलता-टहलता एक शिला पर बैठ गया। सन्ध्या चुपचाप सरकी आ रही थी। मानों अपनी अँधियारी साड़ी में से थोड़ी स्निग्धता और शान्ति भी बिखराती आ रही हो।

शिवा की गोद में एक टीड़ी आ पड़ी। शिवा उसे देखता रह

गया। मानों वह अपनी धुन में है, शिवा की उसे खाक परवाह नहीं। मानों किसी नये खेल की टोह में जा रही है।

शिवा ने पकड़ने को हाथ बढ़ाया कि वह फुदककर भाग गई।

सामने से एक चिड़िया उड़ी,—टि टी हु ई टी। और गाकर बैठ गई दूसरी चिड़िया के पास। और वे दोनों चोंचें मिलाकर अभिन्न प्रेम-सम्भाषण करने लगीं।

ऊपर एक बादल का टुकड़ा भागा जा रहा था—एक और को पकड़ने। देखते-देखते वे दोनों मिले और आपस में गुँथ गये।

शिवा ने कहा—'अच्छा भाई, मिलो, मिलो। मैं भी अब तुम्हारे समाज में आता हूँ।'

उस समाज में उसकी प्रवेश-प्रार्थना पर कैसा स्वागत मिल रहा है, यह वह समझ पाये ही कि उसने सुना—'महाराज!'

मुड़कर देखा—एक युवक है। वह युवक उसके चरणों पर आ पड़ा।

वह युवक है, नया है, फिर भी नया नहीं है। कुछ है उसमें, जो जाना-सा मालूम पड़ता है।

फिर सुन पड़ा—'महाराज!'

इस वातावरण में और इस नये प्रकार के उठे-हुए विचार-क्षेत्र में शिवा अपना सरदारपन भूल बैठा था। अभी उसे अपने में उस 'बू' को लाने की जल्दी भी न थी। कहा—

'कहो भाई!'

युवक ने कहा। क्या कहा स शिवा न समझ सका। जो कहा गया था उसका आशय नहीं. उसका स्वर उसने सुना—वही उसने समझा और तब उसने गौर से युवक को देखा।

युवक के सारे गात में एक सिहरन लहराई, आँखें झपीं-सी,

और मामूली-सा सिन्दूरियापन दौड़ गया। शिवा से यह छिपा न रहा, और उसके भीतर एक गुदगुदी सी मच उठी।

'तुम्हें भाई नहीं कहना चाहता, बहन भी नहीं कहना चाहता। क्या कहूँ ?'—शिवा ने हँसकर, काँपकर पूछा।

युवक, जो युवति था, शर्मा गया।

जंगल सूना था, पर शिवा मजबूत था। फिर भी उसकी मजबूती, पिछले विचार-प्रवाह से, मानों पिघल उठी थी। यह हो नहीं सकता था कि वह मजबूती रिसकर बह जाती, तो भी शिवा ने उस पर विश्वास रखना उचित न समझा।

पूछा—'हाँ, क्या चाहती थीं ?'

—'नौकरी।'

'छिः। नौकरी किया करते हैं कहीं !'

'सेना में नौकरी चाहती हूँ।'

'मारने का काम करोगी ? वह काम क्या तुम्हारे बस का है ? तुम्हें तो जीने और जिलाने का काम करना चाहिए। क्यों ?'

'हाँ।'

'सेना में क्यों जाना चाहती हो ?'

'मारने नहीं।'

'फिर ?'

'बचाते-बचाते मरना चाहती हूँ। आपको मारने वाले बहुत हैं।'

इतने साहस की बात करने के पश्चात् मानों युवति का साहस चुक गया। शिवा का जी पसीज गया। इस उत्कण्ठित उत्सर्ग की आकांक्षा को देख वह धन्य हुआ। किन्तु वह क्या इसके तनिक भी योग्य है ? उसे बस यही अधिकार है कि वह क्या इस उत्सर्ग को ले,

और इसी पर अपने शरीर की रक्षा प्राप्त करे। उसे अपनी स्थिति पर आन्तरिक खेद हुआ।

उसने कहा—'बाई, यह क्या कहती हो?—क्या जाने यह नौकरी ही न रहे, सेना ही न रहे। और फिर मेरा शत्रु बनने की भी किसी को आवश्यकता न रहे। जाओ बाई, ऐसा ध्यान न करो। मेरी शपथ, जो ऐसी बात तुमने मन में रक्खी। शिवा का जीना अभी बहुत भारी है। फिर तो उस जीवन को उठाना ही कठिन हो जायगा।'

युवति शिवा के पैरों में पड़ गई। शिवा ने उसे उठाया, कुछ कदम उसके साथ गया, और बिदा किया, कहा—'मेरा मार्ग न बाँध दिया गया होता, तो क्या मैं जान-बूझकर धन्य होने से बचता? बाई, जाओ, शिवा बड़ा अपात्र व्यक्ति है।'

वहीं, उसी शिलाखण्ड पर बैठा था कि त्र्यम्बक अपने साथियों सहित उपस्थित हुआ।

'महाराज!'

'अरे, त्र्यम्बक!'

'क्षमा करें, महाराज।'

त्र्यम्बक ने अपनी पूरी कहानी कही। शत्रुओं के साथ मुठ-भेड़ की और अपने घावों की बात बहुत संक्षेप में बतलाई। फिर कहा—

'क्षमा करें, महाराज!'

शिवा ने कहा—'त्र्यम्बक मैं वही मार्ग पकड़ना चाहता हूँ, जहाँ क्षमा ही क्षमा है। जहाँ क्षमा माँगने की आवश्यकता ही मिट जाती है। वह छोड़ना चाहता हूँ, जहाँ दण्ड ही दण्ड है। मैं थक गया हूँ। यह नित्य की नई लड़ाई, खोने को रोज नई जानें, नये

नये अपराध और नये दण्ड—मैं इन सबसे घबड़ा गया हूँ। मैं चाहता हूँ, ये कुछ भी न रहें। हम-तुम भाई बन कर रहें, जैसे कि हम भाई-भाई हैं।'

त्र्यम्बक घबड़ाया—'महाराज!'

शिवा ने कहा—"त्र्यम्बक, शिविर में जाओ! बहुत कुछ करना है। पर अच्छा है, यह सब करना-कराना शेष हो जाय। औरङ्गजेब की सेना इधर बढ़ी आ रही है। उधर कुछ अपने लोग भी चारों ओर से हमें घेरने के प्रयत्न में हैं। इन सबको भिकाने और इनसे बचने को क्या करना होगा, सो सब मैं कर आया हूँ। दक्षिण की ओर एक टुकड़ी भी जायगी। बीजापुर की स्थिति सुन कर कुछ करने की ज़रूरत होगी। वैसे भी, अपनी हालत और वहाँ की हालत को देखते हुए, तुरन्त कुछ कर बैठना ठीक नहीं। जहाँ से सहायता का वचन है, उसकी भी उचित प्रतीक्षा करनी ही चाहिए। इस तरह परसों तक हम यहीं हैं। तब तक कुछ भी आँच यहाँ तक पहुँच सकेगी—यह असम्भव है। इसलिए मैं आज श्री समर्थ गुरु के पास जाता हूँ। परसों प्रातः ही यहाँ पहुँच जाऊँगा। कोई मेरे साथ नहीं जायगा। तुम लोगों को तैयार रहना चाहिए। यदि श्री गुरु ने मेरी प्रार्थना स्वीकार न की, तो परसों दस बजते-बजते सबको पाँच टुकड़ियों में बँटकर यहाँ से कूच कर देना होगा।"

फिर हृदयाकांक्षा से भीने स्वर में कहा—'त्र्यम्बक, मैं गुरु के पास छुट्टी माँगने जा रहा हूँ, जिससे इस झंझट से हम-सब मुक्त हों और प्रकृति के सच्चे प्राणी होकर रहें। यदि इच्छा स्वीकृत हुई, तो तुम्हें सूचना दूँगा,—कोष में जो कुछ है वह सब लोगों में बाँट

देना और उन्हें विदा दे देना। मैं कुछ दिन गुरु के पास ही और फिर किसी खेड़े में रहूँगा।...'

त्र्यम्बक ने कहा—'महाराज !'

शिवा ने कहा—'जाओ, जैसा कहा वैसा करो।'

त्र्यम्बक चला गया।

: ३ :

श्री समर्थ गुरु के पास चरणों में।

'क्यों, शिववा, क्या है ?'

'गुरुवर, बड़े क्लेश में हूँ।'

'क्लेश ? कैसा क्लेश ?—क्या फिर उकताहट उठती है ? मैंने तुम्हें बताया, उकताहट का यह स्थान नहीं। कर्म अनिवार्य है और मनुष्य नितान्त स्वतन्त्र नहीं है। कर्म की परिधि में घिरा है, बस परिधि के भीतर स्वतन्त्र है। परिधि से बाहर भाग कर वह नहीं जा सकेगा। इसे वह अपना दुर्भाग्य समझे या सौभाग्य,—जग का तन्त्र ही ऐसा है।'

'भगवन् , कर्म की अनिवार्यता तो मैं स्वीकार करता हूँ। किन्तु हँसना-खेलना भी तो कर्म है। प्यार करना भी तो कर्म है। जीवन के विनोद में बह चलना भी तो कर्म है। पानी बहता है और खेलता है, चिड़ियाँ उड़ती हैं और चहकती हैं, पेड़ फलते हैं, फूलते हैं और झूमते हैं, सम्पूर्ण जगत् ही मानो आनन्द के सक्रिय समारोह में तन्मय योग देता रहता है। फिर मेरे ही जिम्मे यह लड़ना-मारना क्यों है ? बहुत-सी जीवन की लहरों को बलात् रोक कर और अस्वीकार करके एक बनावटी कर्तव्य-शासन में बँधे रहना, जगत् के और प्राणियों को छोड़ कर, मेरे ही लिए क्यों

आवश्यक है ? गुरुवर, मुझे इस निश्चल प्रकृति को देखकर ईर्ष्या होती है, और अपने बन्धनों पर बड़ी खीझ होती है।'

स्वामी रामदास ने स्पष्ट देखा, शिवबा की वितृष्णा सच्ची है, फिर भी मोह-जन्य है। जो सामने सरस दीख पड़ता है, उसी से ललचाकर, अपने में यह विरागाभास उसने उत्पन्न किया है। वे बोले—'शिवबा, भूलते हो। जिसको जिस तरह देखते हो, वह वैसा ही नहीं है। जो हँसता दीखता है, क्या मालूम वह उसका रोना हो! इसलिए दूसरों की हँसी पर मत लुभाओ। खुद हँसना सीखो, और वह तभी सीख पाओगे, जब जो कुछ होगा उसी पर हँसोगे। दुःख पर वैसे ही हँस दोगे, जैसे सुख पर। यह उकता उठना छोड़ दोगे। तुम, सम्भव है, मुझे मुक्त समझो; हाँ, मैं अपने को मुक्त समझता हूँ। पर तुम भी यदि मेरी ही तरह हो जाओ, कोपीन धार लो और सन्यासी बन जाओ, तो आत्मा का असन्तोष ही पाओगे। सबके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं, यद्यपि सब का अन्त एक है। वह मार्ग किसी के लिए भी मखमल-बिछा नहीं है, वह तो दुर्धर्ष ही है। जो उस मार्ग पर चलना ही नहीं आरम्भ करते, उनकी बात छोड़ दो,—वे तो सचमुच उच्छृङ्खल रहकर जो जी-चाहा उसमें भूले रह सकते हैं। पर जो मार्ग पर चलने के अधिकारी हो गये, फिर उन्हें जी-चाहे-जो करने का अधिकार नहीं रहता है। उनका तो मार्ग खड्ग की धार की तरह एक-रेखा-रूप, निश्चित और सकरा बन जाता है। तुम्हारा मार्ग राजा का है, मेरा मार्ग साधु का है। हम दोनों की पूर्णता और आत्मोपलब्धि अपने-अपने मार्गों में है। राजा संसार का साधारण गृहस्थी नहीं है, वह बड़े दायित्वों से बँधा है। इसलिए उसके कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की परिभाषा गृहस्थ के पैमाने से नाप कर नहीं बनेगी। उसे अधिकार नहीं, कि वह सहज-

प्राप्य अपनी आत्म-तुष्टि ढूढे, अपने विलास का आयोजन करे। क्योंकि उसे बहुतों के सुखों और जीवनों की रक्षा का भार सौंपा जा चुका है। क्या अपने सुखों को दूसरों की सुविधा के लिए उत्सर्ग कर देने का यह अधिकार प्रत्येक को मिलता है? इसके अधिकारी विरले होते हैं। तो क्या तुम इस अधिकार से विमुख होगे? तुम्हें कितना बड़ा उत्सर्ग करना पड़ रहा है, मैं जानता हूँ। जो चीज़ तुम्हें दुःख पहुँचाती है, हिंसा, वही करने पर तुम बाध्य हो। यश, प्रतिष्ठा, जिससे तुम भागना चाहते हो, वे ही तुम्हें चिपटानी पड़ती हैं। यह महान् उत्सर्ग है, मैं मानता हूँ। किन्तु मैं समझता हूँ, शिवबा, वह विराट् उत्सर्ग का अवसर—जो तुम जैसे विरलों को ही मिलता है,—तुम खोओगे नहीं।'

शिवा की आत्मा को इन शब्दों से बोध तो हुआ, पर हृदय की व्यथा पूरी न मिट पाई। वह बोला—

—'महाराज, मैं नहीं जानता, पर जी बेचैन रहता है। करता हूँ, पर अकुलाये मन से......।' 'ठहरो' गुरु ने कहा—'समझने में तुम्हें आयास और समय की आवश्यकता होगी। इस बीच मेरा आदेश समझ कर ही मानो। आदेश में शङ्का न करो—पाप लगता है। जाओ—औरङ्गजेब की सेना बढ़ रही है। ब्राह्मणों का अपमान, धर्म पर अत्याचार और गौओं की हत्या हो रही है। भारत की भारतीयता खोई जा रही है। इसकी रक्षा करो!'

शिवा चरणों में पड़ा।—'भगवन्!'

—'जाओ, शिवबा, कर्म करो। शङ्का न करो, आकांक्षा न करो। निःशङ्कित आस्था रखो, निःकांक्षित कर्म करो।'

शिवा पद-धूलि लेकर चला गया।

: ४ :

टुकड़ियाँ बँट गई हैं। शिविर उखड़ने को है। सब अपने-अपने काम पर कूच करने की तैयारी कर रहे हैं। वही 'परसों' आ गया है और वही शिवाजी—लड़ाई का उत्कट, उद्भट, चपला की तरह चपल शिवाजी,—आ गया है।

तभी त्र्यम्बक का मुक़दमा हाथ में लिया। त्र्यम्बक पेश हुआ।

शिवा अब मानो कर्त्तव्य-ही-कर्त्तव्य है। हृदय जो भावना का स्थान है, मानो शिवा ने उसे बिल्कुल सुला डाला है। हाँ, मस्तिष्क, जो विचार और विवेचना का स्थान है, पूर्ण सजग है। बोला—

'त्र्यम्बक, तुम्हारा अपराध अक्षम्य है। मेरे निकट क्षमा वैसे भी अक्षम्य है। तुम्हें सबसे बड़ा दण्ड जो मैं दे सकता हूँ, देता हूँ। तुम घर जाओ, रहो, तुम से और सेवा मैं नहीं ले सकूँगा।'

सचमुच दण्ड त्र्यम्बक के लिए इससे बड़ा न हो सकता था। वह सब-कुछ कर सकेगा, पर शिवा को छोड़ना!—यह कैसे होगा? मौत मन्जूर होती, पर यह तो उस स्वामिभक्त के लिए बिल्कुल असह्य ही है।

उसने बहुत विनती की। पर शिवा की बात शिवा की बात है, झुकेगी नहीं।

वह,—वही युवक भी हाज़िर हुआ। शिवा की आँखों में सरसता की झाईं भी नहीं है। केवल एक वस्तु है,—प्रभुत्व।

'नौकरी चाहते हो?'

'जी!'

'अच्छा।'

फ़ौजदार को इस नये सिपाही को बाक़ायदा शपथ-पूर्वक भर्ती कर लेने का हुक्म हुआ।

लड़ाई हुई। धावा अचानक का था। शिवा का बचना असम्भव था,—पर भाग्य कहिए, बच गया। भाग्य को श्रेय देते हुए शर्म आती है। किन्तु एक छोटे से अनजाने सिपाही को श्रेय देने का क़ायदा इतिहास का नहीं है। कोई उत्सुक पूछे ही, तो इतना बता सकते हैं कि एक तलवार का भरपूर हाथ जो ठीक शिवाजी की गर्दन पर पड़ता, और पड़ता, और पड़ता तो कभी अकारथ न जाता, एक नये युवक सिपाही की पीठ पर पड़ा! वह सिपाही फिर ज्यादा देर तक जीता न रहा और उसके साथी भी भली प्रकार उसके गाँव-पते का पूरा पता न चला सके। क्योंकि शिवा ने तुरन्त लाश अपने ख़ास शिविर में मँगा ली थी, और फिर कोई बाहरी आँखें उस पर न पड़ सकी थीं।

शिवा ने उस लाश को क्या किया? उसे आँसुओं से तो भिगोया ही,—फिर क्या किया, नहीं कहा जा सकता।

एक कैदी

मानव-समाज के विधान और व्यवस्था की दृष्टि से व्यक्तियों को दो श्रेणियों में बँटा देखा जा सकता है, अनुकूल और प्रतिकूल। अनुकूल में फिर दो वर्ग हैं। एक जो कानून मनवाते हैं, दूसरे जो कानून मानते हैं। इस तरह के लोग समाज के रक्षक और आधार होते हैं। सभ्यता और संस्कृति इन्हीं पर टिकी होती है। समाज का अधिकांश भाग जब तक इन दोनों प्रकार के आदमियों को लेकर बनता है, तब तक समाज में अनुशासन और स्थिरता बनी रहती है।

किन्तु सत्य स्थिरता से घिरा नहीं है, न अनुशासन से परिबद्ध। काल भी सत्य ही है। काल, जो बनने और मिटने का आधेय है। अतः स्थिरता सिद्धि नहीं है, गति भी आवश्यक है। जीवन अस्तित्व से अधिक कर्म है। उन्नति, प्रगति, परिवर्त्तन आदि इसी जीवन की परिपूर्णता के अंग हैं।

इसीलिए समाज में प्रतिकूल व्यक्ति की भी आवश्यकता है, उसकी उपयोगिता भी है। वह प्रतिकूल है, न वह शासक है,

न शासित। विद्रोही उसे कहो तो कह सकते हो। शासक के मुँह लगने की चिन्ता भी उसे नहीं है, न पिचकर दब बैठना ही उसके मान की चीज है। वैसे व्यक्ति के लिए अदालत बैठी है, जेलखाना खड़ा है और पिनल-कोड में निर्णीत सजाएँ मुद्रित हैं। ऐसे लोग अव्यवस्था पैदा करते हैं। अन्ततः यही लोग उन्नति और प्रगति भी पैदा करते हैं।

जब मानव-समाज में इस प्रकार के लोगों की अनुपात से अधिकता होती है, तब विप्लव और क्रान्तियाँ हुआ करती हैं। उनको 'अपराधी' संज्ञा से सुविधापूर्वक निर्दिष्ट किया जा सकता है। इन अपराधियों की भी दो श्रेणियाँ हैं। एक तो वे जो खुलकर अपराध करते हैं। वे अपराध करने को सत्याग्रह और फाँसी चढ़ने को शहादत कहते हैं। कानून तोड़ने को वे अपना धर्म तक बना लेते हैं। विद्रोह उनका कर्म-मार्ग है, विप्लव जीवन। वे ऐसे 'चोर' हैं जो सीनाजोर भी हैं। अपराधी खुल्लमखुल्ला बनकर वे समाज के नेता और इतिहास के उन्नायक बनते हैं। इस प्रकार के अपराधी पीछे आकर बहुधा शासक-श्रेणी में भी परिवर्तित होते देखे जाते हैं। अपनी अपराध-वृत्ति के कारण तात्कालिक सरकारों द्वारा वे सदा दण्डनीय होते हैं। परन्तु अन्ततः अपनी उस अपराध वृत्ति में दुर्दमनीय उद्दण्डता एवं सत्यबोध के कारण इतिहास के मान्य पुरुष भी वे होते हैं।

अपराधी श्रेणी का दूसरा भाग नैतिक अपराधी के नाम से पुकारा जाता है। यह भाग बहुधा ऐसा होता है जिसके लिए अप-राध-वृत्ति लगभग एक पारिस्थितिक अनिवार्यता है। भूख से लाचार हो गये, तब चोरी कर ली; गुस्सा चढ़ आया, मार बैठे; ठनी तो लट्ठ लेकर फैसला कर डाला; कामोन्मादवश बलात्कार

एक कैदी

मानव-समाज के विधान और व्यवस्था की दृष्टि से व्यक्तियों को दो श्रेणियों में बँटा देखा जा सकता है, अनुकूल और प्रतिकूल। अनुकूल में फिर दो वर्ग हैं। एक जो कानून मनवाते हैं, दूसरे जो कानून मानते हैं। इस तरह के लोग समाज के रक्षक और आधार होते हैं। सभ्यता और संस्कृति इन्हीं पर टिकी होती है। समाज का अधिकांश भाग जब तक इन दोनों प्रकार के आदमियों को लेकर बनता है, तब तक समाज में अनुशासन और स्थिरता बनी रहती है।

किन्तु सत्य स्थिरता से घिरा नहीं है, न अनुशासन से परिबद्ध। काल भी सत्य ही है। काल, जो बनने और मिटने का आधेय है। अतः स्थिरता सिद्धि नहीं है, गति भी आवश्यक है। जीवन अस्तित्व से अधिक कर्म है। उन्नति, प्रगति, परिवर्त्तन आदि इसी जीवन की परिपूर्णता के अंग हैं।

इसीलिए समाज में प्रतिकूल व्यक्ति की भी आवश्यकता है, उसकी उपयोगिता भी है। वह प्रतिकूल है, न वह शासक है,

न शासित। विद्रोही उसे कहो तो कह सकते हो। शासक के मुँह लगने की चिन्ता भी उसे नहीं है, न पिचकर दब बैठना ही उसके मान की चीज है। वैसे व्यक्ति के लिए अदालत बैठी है, जेलखाना खड़ा है और पिनल-कोड में निर्णीत सजाएँ मुद्रित हैं। ऐसे लोग अव्यवस्था पैदा करते हैं। अन्ततः यही लोग उन्नति और प्रगति भी पैदा करते हैं।

जब मानव-समाज में इस प्रकार के लोगों की अनुपात से अधिकता होती है, तब विप्लव और क्रान्तियाँ हुआ करती हैं। उनको 'अपराधी' संज्ञा से सुविधापूर्वक निर्दिष्ट किया जा सकता है। इन अपराधियों की भी दो श्रेणियाँ हैं। एक तो वे जो खुलकर अपराध करते हैं। वे अपराध करने को सत्याग्रह और फाँसी चढ़ने को शहादत कहते हैं। कानून तोड़ने को वे अपना धर्म तक बना लेते हैं। विद्रोह उनका कर्म-मार्ग है, विप्लव जीवन। वे ऐसे 'चोर' हैं जो सीनाज़ोर भी हैं। अपराधी खुल्लमखुल्ला बनकर वे समाज के नेता और इतिहास के उन्नायक बनते हैं। इस प्रकार के अपराधी पीछे आकर बहुधा शासक-श्रेणी में भी परिवर्तित होते देखे जाते हैं। अपनी अपराध-वृत्ति के कारण तात्कालिक सरकारों द्वारा वे सदा दण्डनीय होते हैं। परन्तु अन्ततः अपनी उस अपराध वृत्ति में दुर्दमनीय उद्दण्डता एवं सत्यबोध के कारण इतिहास के मान्य पुरुष भी वे होते हैं।

अपराधी श्रेणी का दूसरा भाग नैतिक अपराधी के नाम से पुकारा जाता है। यह भाग बहुधा ऐसा होता है जिसके लिए अपराध-वृत्ति लगभग एक पारिस्थितिक अनिवार्यता है। भूख से लाचार हो गये, तब चोरी कर ली; गुस्सा चढ़ आया, मार बैठे; ठनी तो लट्ठ लेकर फैसला कर डाला; कामोन्मादवश बलात्कार

जैसा कृत्य कर गुजरे; आदि-आदि। पहले-पहल लाचारी में कुछ अपराध बन गया; फिर करते-करते उसकी बान-सी ही पड़ चली। नैतिक अपराधी अधिकांश ऐसा ही व्यक्ति होता है। वह लगभग परिस्थितियों का शिकार होता है; विवश और अपराध के सम्बन्ध में लज्जित। सीनाज़ोर वह नहीं होता, बेचारा ही होता है। अपराध में उसे दुःख और क्षमा की आशा होती है। वह सीधा-साधा आदमी होता है। घर कुटुम्बवाला होता है। अपने प्यारों को प्यार करता होता है, परायों से बेमतलब रहता है और जो उसका दुश्मन है बस उसका ही दुश्मन है। अपराध उसके भीतर न संकल्प की भाँति रहता है, न वृत्ति की भाँति। परिस्थितियों का तर्क ही उसे अपराध में ले जाता है। ऐसा बेचारा आदमी निम्न, हीन, तिरस्करणीय नैतिक अपराधी गिना जाता है।

दूसरा है, जिसे अपने अपराध में गौरव है। वह अपने अपराध में क्षमाप्रार्थी नहीं, प्रत्युत हठी है। उसके सम्बन्ध में अपराध की अनिवार्यता तनिक भी प्रकट नहीं है। वह गुस्से की मदद से नहीं, सिद्धान्त की मदद से हत्या करता है। पेट की जरूरत से नहीं, आदर्श की प्रेरणा से डाके डालता है। अपने या अपने ही कुनबे के लिए नहीं, जाने किस और बड़ी चीज का नाम लेकर कानून का सामना करने को आगे आता है। संक्षेप में वह कानून को तमाचा मारते हुए भी उसी कानून के मुँह के सामने शहजोर बनता है। ऐसा आदमी नैतिक अपराधी नहीं, राजनैतिक अपराधी समझा जाता है।

पहले प्रकार का आदमी तो कानून की मुट्ठी में अभियुक्त है—कैदी है। दूसरी तरह का आदमी यह होकर भी मानो सरकार का प्रार्थनीय होता है और स्पृहणीय माना जाता है।

मुझ में ही भला और क्या बात थी ? यही तो कि जब मजिस्ट्रेट ने पूछा कि आपने यह किया, तब मैंने कहा—'हाँ, मैंने यह किया।'

उसके बाद मैंने मजिस्ट्रेट के सामने अपनी कुर्सी में बैठे-बैठे और भी बातें कहीं जिनमें एक यह भी थी कि मैंने कानून को तोड़ा, क्योंकि वैसा न करना मेरे लिए बेइज्जती हो जाती। मुझे दुःख नहीं है कि मैंने वैसा किया, और आप जो सजा देंगे उसे धन्यवादपूर्वक मैं ले लूँगा।

यही कहना होगा कि इस शहजोरी के कारण मजिस्ट्रेट ने मुझे 'ए' क्लास दे दिया। आप जानते हैं कि कानून की निगाह में आदमी-आदमी सब बराबर हैं। किन्तु आप यह भी जान सकते हैं कि आदमी कभी न सब बराबर हुए हैं और न होंगे। वह आदमी ही क्या, जो अपने को औरों से विशिष्ट न समझे ? और वह समझदारी क्या, जो आदमी में फर्क करना न जाने ? और क़ानून के रक्षक लोगों को कभी भी अनसमझ नहीं समझा जा सकेगा। सच यह है कि आज हम यह आवश्यक समझते हैं कि कैदियों में श्रेणियाँ रहें और हम जैसे लोग 'ए', 'बी' क्लासों में रखे जायँ। जेल में जब मैं उन कैदियों को देखता हूँ, जिनको विधि ने न जाने अपनी किस उँघानींदी में इस दुनिया में मुझ जैसा ही आदमी बनने दिया है, तब सरकार की बनाई हुई इन 'ए' और 'बी' क्लासों का तथ्य मुझे सहज ही हृदयँगम हो जाता है।

हम लोगों का जेल में रहने का अहाता अलग है। अन्य कैदियों से हमें न मिलने-जुलने देने का ख्याल रखा जाता है। और न हम खुद उनसे मिलना चाहते हैं। हम लोग विशिष्ट हैं और विशिष्टता का घेरा हमारे चारों ओर रहे, यह हमें भी अप्रिय नहीं लगता।

अहाता छोटा-सा है और काफी उद्यम और खर्च करने के बाद हमने दो घण्टे सुबह और दो घण्टे शाम को सड़क पर कुछ दूर टहल सकने के लिए अपने लिए आज्ञा प्राप्त कर ली है।

साफ़, स्वच्छ, सफेद खद्दर के लिबास में, पैर में चप्पल डाल, अध्यात्म और राजनीति की चर्चा चलाते और सड़क पर टहलते हुए हम देखते हैं कि और कैदी बड़ी श्रद्धा और बड़े धन्य भाग्य के साथ हमें देख रहे हैं। उन्हें मालूम है कि हम शाहजादों से कम नहीं हैं, लेकिन फिर भी भारत-माता के लिए संकट उठा रहे हैं। हम उनके इस विस्मयापन्न आदर-भाव को बस एक निगाह देखते हैं और फिर झट अपनी अध्यात्म और राजनीति की चर्चा में और भी जोर से दिलचस्पी लेते हुए बढ़ते चले जाते हैं। इधर से उधर जाते हैं, उधर से इधर आते हैं और......

कई रोज से एक कैदी को देख रहा हूँ। वह हमारे पास तक आकर भी दूर रह जाता है। सँकोच भाव से वह हमें नमस्कार करता है और मानो यह अनुभव कर अपने-आप लज्जित भी होता है कि हमने कहीं उसका नमस्करण देख तो नहीं लिया! रँग गोरा है, किन्तु गोरे से अधिक उसे पीला कहना चाहिए। रक्त उसकी देह में निरा-ही-निरा बस काफी है, व्यर्थ एक बूँद भी नहीं है। दुबला है और नीचे से उसकी टाँगें ज्यादा एक-दूसरी से दूर मालूम होती हैं। बाल बड़े-बड़े हैं, कढ़े हुए हैं और उनमें तेल पड़ा है। ऐसा लगता है, जैसे दमे का बीमार हो। एक बार तो वह सड़क के इतने किनारे आ गया कि सिवा इसके हमें दूसरा चारा न रहा कि हम उसे मालूम हो जाने दें कि उसका अभिवादन हमने देखा है। प्रत्युत्तर में जब उस अभिवादन की स्वीकृति भी हमने दी, तब अतिशय धन्य-भाव से उसका मुँह खुल आया था और

हमने देखा था कि उसके अगले दो दाँतों में सोने की कीलें लगी हुई हैं।

हम कभी बाहर आकर कुछ खेल भी खेला करते थे। उस समय भी वह कैदी इधर-उधर हमें देखता था। गेंद जब दूर चली जाती, तब वह दौड़ कर उसे ले आता और मानो इस प्रकार हमारी तनिक सेवा कर पाने पर अपने को कृतार्थ अनुभव करता।

लेकिन हम में एक ऐसा व्यक्ति भी है, जो शब्द के पूरे अर्थ में उच्चवर्गीय नहीं है। उसकी बौद्धिकता की हम में से किसी पर धाक नहीं है, न उसके व्यवहार में वह वँशगत शालीनता है। लेकिन वह हम लोगों की टोली में सबसे अनिवार्य व्यक्ति है। उससे सब के बहुत-से काम सधते हैं। यहाँ के उसके मित्र बन गये हुए लोगों की गिनती में बहुधा ऐसे हैं, जिन्हें भद्रजनों की श्रेणी में मैं मरते दम तक न रख सकूँगा। गठकटों को, चोरों को, लुटेरों को, समाज की इस जूठन को बताइए, हम लोग अपने निकट कैसे बर्दाश्त कर सकते हैं? लेकिन वह हमारा साथी, भद्र और अभद्र के बीच में गहरी रेखा है, मानो उसे देख पाता ही नहीं है। आयासपूर्वक उस रेखा को वह उल्लङ्घन करता हो, सो भी नहीं। ऐसा हो, तो भी हम समझ सकते हैं। लेकिन उस कम पढ़े-लिखे हमारे साथी का हाल तो यह है कि उसे आदमी और आदमी के बीच की रेखा दिखाई तक नहीं देती है। उसकी ऐसी मोटी दृष्टि है।

हमारी अध्यात्म और राजनीति की चर्चा में उस कन्हैयालाल को तो हमने सदा पस्त ही देखा है। हमें यह भी सन्देह है कि उसकी मोटी बुद्धि में वे तात्त्विक बारीकियाँ प्रवेश भी पाती थीं या नहीं।

एक दिन कन्हैयालाल ने टहलते समय उस कृशकाय व्यक्ति की ओर संकेत करके पूछा कि क्या मैं जानता हूँ कि वह कौन है?

वह कैदी सदा की भाँति सकुचाता हुआ सड़क के एक ओर खड़ा था। उसने हमें नमस्कार किया था और हम सिर को स्वीकृति में तनिक झुका देकर फिर उसी प्रकार सड़क पर चलने में तल्लीन रहे थे।

मैंने कन्हैयालाल से कहा कि उस तरह के आदमियों को विना जाने हमारा कोई विशेष काम तो रुका नहीं पड़ा है, तो भी कन्हैया-लाल को उसके बारे में कुछ कहना हो तो कहें।

कन्हैयालाल ने कहा—'वह गढ़वाली है, पंडित जी।'

मैंने साधारण भाव से कहा—'अच्छा।'

कन्हैयालाल बोला—'आपको सन् '३० की वह गढ़वाली सिपाहियों की घटना याद है न ? वही यह गढ़वाली है।'

तब मुझ में उस आदमी के प्रति दिलचस्पी जागी। मैंने उसकी ओर देखा। कन्हैयालाल के संकेत पर वह हमारी ओर बढ़ता आ रहा था। भय से वह भीत था और रह-रह कर पीछे की ओर देखता था। पास आकर उसने कहा—'वन्दे-मातरम्।'

मैंने भी किया—'वन्दे-मातरम्।'

इस पर उसका रक्तहीन मुख खुल आया। और सोने की कील लगे दाँत दिखाई देने लगे। मानो वह विह्वल हो आया हो।

मैंने पूछा—'कहो भाई ! अच्छे हो ?'

उसने कहा—'जी हाँ।'

'बीमार हो क्या ?'

'जी नहीं।'

'फिर यह क्या हाल है ?'

तब उसने बताया कि इन दिनों तो वह अपने को बीमार नहीं कह सकता, पर जेल के उसके शुरू के ढाई साल बड़ी मुसीबत में

बीते हैं। जी गया, यही बहुत समझो। दो साल तक तो पेचिश ने ही दम नहीं लेने दिया। तिस पर जेल वालों ने भी कम सख्तियाँ नहीं कीं। यह उसका जेल में चौथा साल है। उसकी सजा यों पूरे दस वर्ष की लिखी है। पर दो साल छूट के मिल जाने की उम्मीद है। आगे भगवान् जाने।

यह कहते-कहते उसने कई बार पीछे घूम-घूम कर देख लिया। वह इस प्रकार शायद अपने पीछे आते हुए जमादार की टोह लेता था। उसकी परछाईं दिखी कि वह भाग जायगा। जैसे हवा के आने पर पत्ता काँपने को तैयार रहता है, ऐसा ही उसका हाल था।

मैंने पूछा—'तुम्हारे बाल-बच्चे हैं?'

उसने कहा—'हैं जी।'

'कभी तुमसे मिलने आते हैं?'

उसने कहा—'जी नहीं, क्योंकि यह जगह बहुत दूर है। और, नहीं आते यही अच्छा है। क्योंकि उनसे मिलकर चित्त का दुःख बढ़ता ही है।'

मैंने पूछा—'तुम्हें अपनी रिहाई का भरोसा है?'

किन्तु इसी वक्त जल्दी से वह हम से दूर हो गया। हमसे किनारा काट ऐसे बेगाने भाव से वह चल पड़ा कि मानो कभी उसने हमें देखा ही न हो। बात यह थी कि वह जमादार को इधर आते देख चुपचाप सरक गया था।

मैंने कन्हैयालाल की ओर देखा। मेरे मन में उस गढ़वाली को देख कर दर्द हुआ था। आज तो वह मेमना भी नहीं है इतना डरता है, किन्तु कभी वही फौजी गढ़वाली भी रहा होगा। उसमें कर्रापन कहाँ है? निर्भीकता कहाँ है? शरीर का बल और मन का

साहस कहाँ है ? ये सब उसमें से अब कहाँ उड़ गये हैं ? यह दीन क्या कभी संकल्प का धनी भी था ?

हमने अपने सामने-सामने देखा कि जमादार बेज़रूरत बेहूदी गालियाँ सुनाता हुआ उस कैदी को खदेड़ कर ले जा रहा है, और वह कैदी खदेड़ा हुआ चुपचाप चला जा रहा है।

अगले रोज़ वह फिर मिला। इस बार शायद वह जमादार को चकमा दे कर आया था और तनिक स्थिर भाव से हमसे बात कर रहा था। मुझे यह समझ में नहीं आता था कि वह कौन-सी बात हो सकती है जो इन लोगों में ऐसा संकल्प भर दे जिससे कि आदमी की जान लेना, जो इनके रोज का खेल होगा, उसी से विरत हो जावें कि जान दे दें पर निहत्थों पर गोली न चलावें। इन लोगों के मन में धर्म-नीति की ही कोई बात गहरी जा कर जम गई होगी, यह एकदम असम्भव मालूम होता था। तब क्या राष्ट्र-प्रेम इन्हें छू गया ? किन्तु देश का प्रेम तो अपने मन के गहरे घाव के संस्पर्श के द्वारा प्रेरक बनता है। अन्यथा वह क्या है ? तब वह ठेस क्या थी।

मैंने यही बात पूछी। पूछा कि उन्हें गोली चलाने से इन्कार करने का परिणाम क्या मालूम नहीं था ? क्या उन्हें पता न था कि इस तरह अगर उनकी जिन्दगी बची भी तो वह जेल में ही बीतेगी ?

उसने जो बताया, उसका आशय था कि मालूम था और नहीं भी मालूम था। वास्तव में परिणाम की भली प्रकार चिन्ता करने का अवकाश ही उनको न रहा था। क्या सब-कुछ परिणाम देख-कर ही करना होता है ? यह हो, तो जीवन में दैवी क्या रहे ? जगत् में ईश्वरीय फिर क्या ठहरे ? साहस तो फिर असिद्ध ही हो

पड़े न—। और तर्क से आगे होकर कुछ ज्ञेय और साध्य रहे ही नहीं। किन्तु नहीं, कुछ ऐसा होता है जो अनिवार्य होता है। अपने आप में ही वह सत्य है और किसी भी फलाफल के विचार,—तर्क से उससे बचना नहीं हो सकता। वह इतना विराट् और इतना भीतरी होता है। फिर भी इतना सूक्ष्म कि समझ पड़ सकता ही नहीं। फिर अपनी कहानी यों सुनाई—

उनके दस्ते को पेशावर बुला लिया गया था। शहर में जोश बहुत बढ़ गया था और लोगों को दबा रखने के लिए फौज की जरूरत थी। दो बार गोली चल चुकी थी। सैकड़ों हताहत हुए थे, पर नगर का साहस बुझा न था। भीतर-ही-भीतर वह साहस सुलग रह था और चमक भी उठता था। अधिकतर भीड़ के सामने हम लोगों को तैनात किया जाता था। हुक्म होता, हम बौछार छोड़ते और सामने की भीड़ में से जिन्हें गिरना होता गिर जाते, कुछ भाग जाते, और शेष तितर-बितर हो जाते थे। पर चन्द मिनटों में दूसरी जगह फिर भीड़ दिखाई देती थी। उस भीड़ में बड़े भी होते, बच्चे भी होते और बूढ़े भी होते। उनमें से कुछ को फिर वही गोलियों के घाट उतरना होता, तब भीड़ छँटती। हमें पेशावर में तैनात हुए चौथा रोज था। सबेरे आठ बजे से हम आये थे और अब बारह बज गया था। छर्रों की छः बौछार हम छोड़ चुके थे और कोड़ियों आदमी उनसे भुन चुके थे। दोपहर के कारण अब सन्नाटा था। बाजार उजाड़ या आदमी इक्का-दुक्का ही सड़कों पर आता-जाता दीखता था। अब हम अपने स्थान को लौटेंगे और तीसरे पहर फिर यहीं ड्यूटी पर आ जायँगे। हम लोगों ने शहर की सड़कों और गलियों की गश्त की। हमारा काम था कि निश्चय कर लें कि सब-जगह शान्ति है।

कहीं पत्ता तो नहीं हिल रहा है। तीन-तीन की लाइन बाँधे, कन्धे पर बन्दूकें रखे, बूटों की धमक से मार्च करते हुए हम लोग चले जा रहे थे।

जब गोली की बौछार छूटती है तब क्या उसे यह फुर्सत रहती है कि देखे कि कौन मरनें लायक है और कौन नहीं मरने लायक? उसकी चपेट में बालक वैसे ही आ सकता है जैसे कोई और। और सचमुच यह जानने का साधन कहाँ है कि यमराज को सब लोग,—बालक, वृद्ध, स्त्री और पुरुष,—एक समान ही प्यारे नहीं हैं। सो बच्चे के पक्ष में पक्षपात करने का न वहाँ कारण था न अवसर।

हम लोग चले ही जा रहे थे कि हमने देखा कि एक छोटी-सी दूकान है। वहाँ एक चपटा लकड़ी का तख्त-सा पड़ा है। कुछ कपड़े लटक रहे हैं। कुछ फर्श पर प्रतीक्षा में फैले हैं। उस तख्त पर एक आदमी बिछा हुआ है। पास एक बच्चा बैठा है। बच्चा बरस-सवा-बरस का होगा। उसने मुँह को लाल रंग रखा है और उसके हाथ भी खून से लाल हैं। बच्चा बहुत खुश है और मानो उसे यह एक नया बढ़िया खेल मिला है। उसके पास नीचे बिछे हुए आदमी के सीने में पाँच जगह गोलियों के गहरे घाव हैं। उनमें से ताज़ा-ताज़ा खून बहकर बाहर आ रहा है। छाती खुली है और बच्चा उन घावों में बार-बार हाथ डालता है और अपने ही को उस लाल लहू से पोत रहा है। वह अपने को इस खूबसूरत और नये रँग से रँगा देखकर प्रसन्न है और ताज़े लहू से भर-भर कर उन हाथों को कभी अपने मुँह पर फेरता है और कभी अपने कपड़ों पर। फिर अपनी खुशी को नीचे बिछे हुए अपने बाप के साथ बाँटने को ललक कर वह खुशी से ताली बजाकर कहता है—'अब्बा, अब्बा!'

हम चल रहे थे, और चलते ही रहे। मानो हमने कुछ नहीं

देखा। पर फिर भी दीखा हो। देखा कि वह आदमी अभी मरा नहीं है, मरने वाला है। उसमें साँस है, क्योंकि लहू रह रह कर अधिक रिस उठता है। बालक हँस कर और हाथ की ताली बजाकर कहता है, 'अब्बा, अब्बा!' और बड़े उल्लास के साथ बाप की छाती के जख़्मों में हाथ डालकर ताज़े गोश्त के छिछड़े मुट्ठी में लाकर द्विगुणित उछाह से चिल्लाता है, 'अब्बा, अब्बा!' अब्बा अपलक बच्चे को निहार रहा है। वह मिनटों का मेहमान है। वह बालक की खुशी को देखकर खुश है। बालक उसके जख़्मों में हाथ डालकर नया गोश्त निकाल कर लाता है,—पिता खुश है! वह मर रहा है, उसे अपार वेदना है,—पर, अपने मुँह से आह निकलने देकर बालक की खुशी को वह नष्ट नहीं कर सकता। मरते-मरते वह अपने बच्चे की आनन्द की घड़ियों को कम न होने देगा। इससे करवट भी न लेगा। न आह निकलने देगा, क्योंकि इससे बच्चा सहम न जाय! असह्य पीड़ा में पड़ा बाप निर्निमेष बच्चे को देख रहा है जो अब्बा के सीने के जख़्मों के गढ़े के लहू से अपने को रँगकर प्रसन्नता से चिल्ला रहा है—'अब्बा, अब्बा!'

हममें से सबने ही वह दृश्य देखा। बालक का लहू से सना उल्लास और पिता के वक्ष से निकलता हुआ लहू का ढेर और पिता की आँखों में छलक आई हुई मृत्यु की भीति और जीवन की ममता,—देखते हुए हम रुके नहीं, चलते ही चले आये! चुपचाप, हम सब इसी प्रकार सड़क पर बूट बजाते हुए निकलते चले ही आये।

अपनी जगह आ गये। पर कोई किसी से नहीं बोला। मानो मुँह में जीभ ही न रही थी। मन भारी था और शब्द असम्भव। सबने चुपचाप खाना खाया, सबने चुपचाप सब काम किया। काम

में कुछ व्यतिरेक नहीं हुआ। तीसरे पहर फिर ड्यूटी पर आये और वही दूकान फिर रास्ते में पड़ी। बाप अब मर गया था और बच्चा पास ही सोया पड़ा था। दस्तेदार ने हमें वहाँ रोका और वह दूकान में गया। बच्चा शायद रोते-रोते सो गया था। तुरन्त वैसे ही मुँह और वैसे ही पाँव लौट आकर दस्तेदार ने जोर से दहाड़ कर कहा—मार्च !

हम सब निःशब्द थे।

उस रोज सब जगह शांति रही और गोली चलाने की आवश्यकता हमें न पड़ी।

उस दिन-भर हमारे दस्ते में शायद ही कोई एक दूसरे से बोला हो। रात को नींद भी किसी को न आती थी। रात के ग्यारह बजे, बारह बजे। उस समय दस्तेदार ने हममें से पाँच को बुलाकर कहा—'भाइयो ! क्या कहते हो ?...'

कि तभी दो-चार गालियाँ थप्पड़-सी आकर मेरे कानों पर बजीं ! मैंने देखा, जमादार ने आकर उस गढ़वाली की न सुनने योग्य गालियों और न सहने योग्य धक्कों-मुक्कों से मरम्मत करना शुरू कर दी है।

कुछ क्षण के लिए मुझे प्रतीत हुआ कि उस कैदी में जैसे कुछ विरोध का भाव उठा है। मानो वह कहने वाला है कि मैं भी आदमी हूँ और जमादार को भी अपने को राक्षस नहीं बनाना चाहिए। किन्तु वह भाव क्षण-भर में ही उसके मुख पर से उड़ गया। और देखते-देखते वह अति दीन होता चला गया। वह हाथ जोड़कर कातर भाव से चिल्ला उठा। पर जमादार ने इस पर और भी जोर से डण्डे जमाये।

मैंने कहा—'जमादार !'

किन्तु जमादार लात और डण्डे की मार के ज़ोर से तब तक उसे दूर ले जा चुका था।

कुछ देर यह सब मैं खड़ा-खड़ा देखता ही रह गया। उसके बाद मैंने कहा—'चलो कन्हैयालाल।'

कन्हैयालाल ने कहा—'चलिए।'

चलते-चलते मैंने कहा—'अब भी क्या इनमें कुछ बचा है जिसे कुचलना शेष हो ? फिर क्यों ये लोग जेल में हैं, एक साथ ये मार ही क्यों नहीं दिये जाते ? यह सदय हो।

कन्हैयालाल ने कहा कि माफ़ी माँगने का रास्ता अब भी इनके सामने खुला है। पर इस कैदी ने इन्कार किया है।

'तो अभी दम है !''

कन्हैयालाल ने कहा—'उसने माफ़ी माँगकर न छूटने की कसम खाई है। और उसे पाप का और बिरादरी का डर है। इस भय को ही दम कह लीजिए।'

मैं चुप रह गया।

स्पर्द्धा

: १ :

बेंज़िलो के जी में एक बात उठी है—शायद बहुत दिनों से उठ रही है। इस समय मित्र से वह बात कहे बिना उससे रहा नहीं जा रहा है। इसीसे उसने पूछा—

'तुम क्या बनाना चाहते हो, गिडिटो ?'

उत्तर में गिडिटो ने पूछा—

'और तुम ?'

उसके मन में जो आकांक्षा संचित हो रही है, अब वह वाणी में फूट ही जायगी। कहा—

'मैं ?—मैं नेपोलियन बनना चाहता हूँ।'

'नेपोलियन ! एकदम ?'

'हाँ।'

'क्यों ?'

'नेपोलियन का जीवन बहुत प्यारा लगता है। कहाँ वह ख़ाक

में से उठा, कहाँ आसमान के सिर पर चढ़ गया और कैसी सेंट हेलेना की सूनी-सी जगह मर गया ! वह एक शख्स था, जो अर-मान लेकर नहीं मरा। जी की सारी हसरत उसने निकाल ली। राजमुकुटों को लात से उछालने के बाद, चौथाई सदी तक दुनिया को थर्रा रखने के बाद, क्या चिन्ता थी, वह कहाँ मरता है !—जेल में मरता है या अकेला मरता है। मनुष्यों में वह सम्राट् था। छोटा-सा आदमी था; पर कितना विराट् था !'

'ठीक ! तो तुम नेपोलियन बनोगे ? क्या और कोई नहीं है, जो बिना अरमान मरा हो ?'

'तुम्हारा मतलब बुद्ध और ईसा से है ? मैं मानता हूँ वे अर-मानों को साथ लेकर नहीं मरे; पर वे अरमान लेकर पैदा भी कहाँ हुए थे ?'

'तो क्या यह कुछ श्रेय की बात नहीं है ? आरम्भ से ही अपनी हविस को नष्ट कर रखना, क्या हर एक का काम है ?'

'मुझे तो इसमें कुछ भी बहादुरी नहीं दीखती। क्या थोड़ी-बहुत हम सबको ही अपनी आकांक्षाओं पर मिट्टी नहीं डालनी पड़ती ?'

'तो तुम्हें निश्चय है, इसमें तारीफ़ की बात नहीं है ?'

'तारीफ़ की बात क्या है—मुझे तो नहीं दीखती। तारीफ़ की बात तो इसमें है कि अपनी आकांक्षाओं को उन्मुक्त कर दिया जाय, उन्हें असम्भव तक पहुँचने दिया जाय। अपने सब अरमानों को भाग्य के मुँह पर पूरा करके दिखाकर, एक विराट् शक्ति के रूप को दुनिया की चकाचौंध के सामने स्तूपाकार—पर्वताकार—खड़ा करके, फिर उसे ठोकर मारकर, व्यक्ति एक विजन कोठरी में जीवन की शेष घड़ियाँ निरपेक्ष, निष्कांक्षी, कृतकृत्य होकर चुप-

चाप बिता दे और फिर मिट जाय,—मेरे निकट यह तारीफ़ की और यही आदर्श की बात है।'

'लेकिन फिर भी दुनिया बुद्ध की और ईसा की ज्यादा ऋणी है। नेपोलियन तो बीती वस्तु बन गया। वह आज हमारे लिए पढ़-पढ़कर स्तम्भित होने भर के लिए है; लेकिन ये महापुरुष तो दुनिया में जीवित और अमर शक्तियाँ हैं...'

'जीवित और अमर शक्तियाँ नहीं हैं,—जीवित और अमर अशक्तियाँ हैं। व्यक्ति के जीवन में क्या तुम रोज़ नहीं देखते कि ये नाम उसे सशक्त तो क्या उल्टे अशक्त बना डालते हैं। यदि कभी इनके व्यक्तित्व शक्ति बनते हैं तो इतिहास इस बात का साक्षी है, इससे घातक, विध्वंसिनी और आत्म-संहारक शक्ति कोई नहीं होती।... लेकिन तुम कहते क्या हो? नेपोलियन पर जितना साहित्य निकला है, उतना और किसी एक व्यक्ति पर न निकला है,—न निकलेगा। न तुम्हारे बुद्ध पर, न ईसा पर।'

'मानता हूँ। और शायद तुम्हें मना नहीं सकता। तो तुम नेपोलियन बनोगे?'

'जी में तो है। प्रार्थना भी है; लेकिन बनने का मार्ग अभी नहीं सूझता। फ्रांस में जैसी क्रान्ति मची, वैसी ही जब यहाँ भी मचे, वैसी ही परिस्थितियाँ उत्पन्न हों, मुझे भी वैसे ही पक्के और साहसी आदमी मिलें,—तब तो! पर, क्या यह सब कुछ मिलेगा? मिले, तो मैं दिखा दूँ, कैसे नेपोलियन बना जाता है।,

'मुझे इसमें कुछ भी आश्चर्य न होगा; पर यार, एकदम सम्राट् बन गये तो, देखो, हमारी भी याद रखना। हमें भी कुछ बना-बना लेना।'—हँसकर गिडिटो ने कहा।

हँसकर ही बेंज़िलो ने जवाब दिया—'हाँ-हाँ, ज़रूर।'

गिडिटो ने फिर जैसे पक्का वादा लेकर ही छोड़ा। मानों कल ही उसे नेपोलियन के बेंज़िलो-संस्करण से अपना प्रार्थना-पत्र स्वीकार कराना होगा।

इस पर बेंज़िलो ने सोचा—कैसा बेचारा, गऊ आदमी है। सदा चुप-चुप अच्छा-अच्छा रहता है। और चाहता है, इस चुप्पी और इस छोटी गठरी-सी भलमनसी के ही इनाम में जब सम्राट् बनूँ, तो इसे भी कुछ बना लूँ। बेचारा है। जानता है, भलाई भी कुछ चीज़ है; जब कि यह जानता ही नहीं कि शक्ति ही सब-कुछ है।

इधर गिडिटो ने सोचा—दुर्भाग्य है कि परिस्थिति, आदमी, क्रान्ति, मार्ग, अवसर और कुछ भी इस दुनिया में बना-बनाया नहीं मिलता। सभी कुछ बनाना होता है। कैसा दुर्भाग्य है जगत् का, कि केवल प्रकृति-नियम में इस ज़रा-सी भूल के कारण दुनिया को बेंज़ी नेपोलियन बनकर न दिखा सकेगा! मैं सचमुच विश्वास करता हूँ—अगर सब-कुछ तैयार किया-कराया मिलता तो बेंज़ी अवश्य सम्राट् बन सकता था। इतनी क्षमता उसमें है,—पर अब...?

: २ :

गिडिटो और बेंज़िलो दोनों कालेज में पढ़ते हैं। दोनों कार्बोनारी*

---

*'कार्बोनार' इटैलियन शब्द है, जिसका अर्थ 'पत्थर का कोयला जलाने वाला' होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में इस नाम से इटली और फ्रांस में राजनैतिक गुप्त समितियाँ बनी थीं, जिनका प्रभाव उस समय बढ़ गया था।

के सदस्य हैं। समिति में दोनों का क्या-क्या स्थान है,—एक-दूसरा नहीं जानता। गिडिटो समिति की सबसे ऊँची तीन आदमियों की नायक-गोष्ठी का भी सदस्य है। समिति के और सदस्य इस गोष्ठी को नहीं जानते। बस, उसके हुक्मनामों से उन्हें काम पड़ता है, व्यक्तियों से नहीं। इधर बेंज़िलो समिति के भीतर ही अपने लोगों का गुपचुप एक अलग गुट बना बैठा है। अधिकारियों को,—नायक-गोष्ठी को—उसका पता नहीं है; पर यह गुट भीतर-ही-भीतर प्रबल होता जा रहा है।

दोनों गहरे मित्र हैं; पर गहराई में बहुत नीचे उतर कर जैसे उन दोनों में विच्छेद हो गया है। वे अपने को एक-दूसरे में खो नहीं सके हैं,—और दोनों ही यह बात जानते हैं। दोनों के ही व्यक्तित्व में, हृदय में और मस्तिष्क में एक-एक कोना है, जो दूसरे के लिए अगम्य है। दोनों ही उस कोने के द्वार पर टक्करें मारते हैं, पर प्रवेश नहीं कर पाते।

इन दोनों मित्रों में एक और सम्बन्ध है। उम्र में दोनों लगभग बराबर हैं; पर गिडिटो जैसे बेंज़िलो के लिए अपने को जिम्मेदार समझता है। बेंज़िलो समिति का आग-भरा सदस्य है। गिडिटो, जिसमें आग-वाग कुछ नहीं दीखती, इसका ध्यान रखता है कि कहीं उसका मित्र खुद ही अपनी आग में न पड़ जाय! वह मानो मित्र का अभिभावक बन गया है। उसके खाने-पीने, पहिरने-ओढ़ने की आवश्यकताओं को देखते और पूरी करते रहना उसने अपना दायित्त्व बना लिया है। बेंज़िलो को खुद जैसे अपनी ख़बर रखनी ही नहीं चाहिए। बेंज़िलो मित्र की इन सेवाओं को सहज स्वीकार कर लेता है। उसे मानो अपने मित्र के अहसानों का पता भी नहीं लगने पाता। वह मित्र के भोलेपन पर थोड़ी दया करता है। इधर

गिडिटो अपने वयस्क मित्र की लापरवाहियों को देख कर खुश होता और थोड़ा चिन्तित भी होता है।

दोनों क्रान्तिवादी हैं; पर बेंज़िलो जैसे क्रान्ति का तर्क है। तर्क की ही तरह वह सीधा जाता है, और तर्क के समान टक्कर लेना और तोड़-फोड़ करना ही उसका काम है। और जैसे तर्क परिणाम के भले-बुरे की चिन्ता नहीं करता, जैसे तर्क केवल अपनी गति और दिशा से ताल्लुक रखता है, वैसे ही बेंज़िलो है।

लेकिन गिडिटो जैसे क्रान्ति की फ़िलासफ़ी है। फ़िलासफ़ी की तरह वह सोच-विचार कर चारों तरफ़ देख-समझ कर चलता है। फ़िलासफ़ी की तरह वह पूर्ण है, उसी तरह गम्भीर। क्रान्ति में अशान्ति रह सकती है, उसके परिणाम में भी हिंसा रह सकती है,— पर उसकी फ़िलासफ़ी में शान्ति-ही-शान्ति है। हिंसा से फ़िलासफ़ी डरती है, उसके निकट वह खुद शान्ति का साधन बन जाती है। वैसे ही गिडिटो खून से भय नहीं खाता; पर लहू की नदियाँ देख कर भी उसकी शान्ति के स्वप्न भंग नहीं होते !

लेकिन फ़िलासफ़ी तर्क का पोषण करती है। तर्क जैसे उसका उच्छृङ्खल हठी बालक है।

बेंज़िलो नेपोलियन बनना चाहता है। गिडिटो, गिडिटो ही बना रहना चाहता है। उसने अपना आदर्श किसी ऐतिहासिक पुरुष में बन्द नहीं किया है। वह अपना आदर्श अपने ही भीतर गढ़ता है, और अपने को उसके अनुरूप गढ़ता रहता है, वह गिडिटो ही बन कर अपने जीवन की सार्थकता ढूँढ़ेगा। नेपोलियन के नाम की प्रभा उधार लेकर वह अपने व्यक्तित्व को सबल, सार्थक और सम्पूर्ण बना सकेगा, ऐसा उसका विश्वास नहीं है।

: ३ :

छोटा-सा कमरा है। बीचो-बीच अनगढ़ मेज़ है। दर्वाज़े की ओर मुँह किए हुए मेज़ के किनारे एक ऊँची कुर्सी है। तीन तरफ़ तीन और साधारण कुर्सियाँ हैं।

एक तरफ़ इटली का बड़ा नक़्शा टँगा है। आले में कुछ बोतल और गिलास रखे हैं। एक कोने में एक खाली स्टूल है। और कुछ नहीं है। कमरा तीसरी मंज़िल पर है।

केवल तीन व्यक्ति बैठे हैं—गिडिटो, एंटिनो, लारेंज़ो।

ला०—'गिडिटो, अपना आसन स्वीकार करें।'

एंटिनो चुप रहा। गिडिटो चुपचाप उस ऊँची कुर्सी पर आ बैठा।

सब ने जेब से अपनी-अपनी नोटबुक निकालीं।

गि०—'एलबर्ट पाँच दिन पहले हममें था; आज वह पीडमोंट की गद्दी पर है। उसके सिर पर ताज रखते ही हमारे दो खास आदमी गिरफ्तार किये गये हैं। सोचना होगा कि हमें अब अपनी प्रगति क्या रखनी है।'

एं०—'वह भगोड़ा है। उसकी वही सज़ा होनी चाहिए।'

ला०—'सज़ा बोलने से कुछ नहीं होता। सज़ा पूरी नहीं की जा सकती।'

एं०—'क्यों?'

ला०—'वह हमसे आगाह है। फिर सारी फौज और पुलिस उसकी पुश्त पर है।'

एं०—'फौज और पुलिस हमारे मार्ग से हमें हटा सकती है तो हमें मर जाना चाहिए।'

ला०—'मस्लहत भी कोई चीज़ है।'

एँ०—'कमज़ोरी है !'

गिडिटो ने तब कहा—'सम्भव है किसी की समझ में अपने इटैलियन भाई को मारना ठीक हो; पर इस बारे में जल्दी नहीं करनी होगी। हम पीडमोंट के संरक्षण में इटली का ऐक्य सम्पन्न करना चाहते थे। आज हम टुकड़ों-टुकड़ों में बँटे हुए हैं। उन टुकड़ों की शक्ति आपस में ही क्षीण हो जाती है; इसीलिए आस्ट्रि-यन के लिए हमारी देश-भूमि रौंदना सम्भव है। हमारी लड़ाई आस्ट्रियन के खिलाफ है और इसलिए पहला काम हमारा इटली को एक राष्ट्र, एक आवाज और एक शक्ति बना देना है। यह काम पीडमोंट की गद्दी को तहस-नहस कर डालने में नहीं होगा। उसको ज्यादा-से ज्यादा मजबूत,—हाँ, उदार—बनाने से होगा। एलबर्ट, हो सकता है, हमारा शत्रु हो; पर उस-जितना भी उदार राजा मिलना असम्भव है। हम उसे मार नहीं सकते। उसकी सहायता हमें करनी होगी,—और अपने लिए भी प्राप्त करनी होगी; क्योंकि हमें अपनी शत्रुता-मित्रता नहीं देखनी,—देश का हित देखना है।'

एं०—'किसी राजा के नीचे इटली का ऐक्य सम्पन्न करने की इच्छा दुःस्वप्न मात्र है। हम राज-सत्ता नहीं चाहते। हम उसे कभी स्वीकार नहीं कर सकते। हम प्रजा-सत्ता चाहते हैं। राज-सत्ता के इतने कड़वे अनुभव के बाद हम यह कभी सम्भव नहीं नहीं समझ सकते कि उससे प्रजासत्ता कायम करने में मदद मिलेगी,—वैसे ही जैसे आग से सर्दी पाने की उम्मीद नहीं कर सकते। हमारा कोड हमें एक और स्पष्ट आज्ञा देता है। वही आज्ञा, पुरुषत्व की और मैं समझता हूँ—बुद्धिमत्ता की भी है।'

गि०—'मैं बहस नहीं करता। लारेंज़ों भाई की राय मैं जानना चाहता हूँ।

ला०—'मुझे डर है कि हत्या हितकारी नहीं होगी। इससे मेरी राय नहीं है।'

गि०—'भाई एंटिनो, अब मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि समिति हत्या के पक्ष में न रहेगी। बहुमत यही है।'

एं०—'बहुमत को सिर झुकाता हूँ। पर एक सूचना अध्यक्ष को देना चाहता हूँ—

एक पन्ना उलट कर एंटिनो पढ़ना शुरू करता है—

'सोमवार ता० १६ मार्च को सभा हुई। उपस्थिति १०।

बेंज़िलो, सभापति।

'भाषणों के बाद, सर्व-सम्मति से तै पाया कि अलबर्ट को अपना सदस्य स्वीकार करना घोर अपराध था। अब वह पीडमोंट का राजा बन गया है। राजा खासकर वह जो आस्ट्रियन की अधीनता स्वीकार करता है, प्रजा-सत्ता का दुश्मन है; इसलिए वह हमारा भी दुश्मन है। हमारी अक्षम्य गलती के प्रतिशोध और प्रजासत्ता एवं क्रान्ति की हित-रक्षा का एक उपाय है, वह है अलबर्ट को नष्ट करना।

'सम्मति जब ली गई तो केवल से०—विरोध में था।

'उसके लिए कई कानों दबी हुई, 'ट्रेटर' (विश्वास-घातक) की आवाज़ आई।

'सबको शान्त करके बेंज़िलों ने घोषणा की कि एलबर्ट की हत्या सभा-द्वारा निर्णीत और उचित ठहराई गई।'

एं०—'इस सूचना के साथ मैं अध्यक्ष को अपने निर्णय पर फिर से विचारने का निवेदन करता हूँ।'

गि०—'मेरा वही मत है जो मैं दे चुका। और समिति का भी वही मत है। बेंज़िलों ने अधिकार से बाहर की बात की है। किसी दुराग्रह को बढ़ने देना ठीक नहीं है। एंटिनो भाई से मैं यह आशा करता हूँ कि वह बेंज़िलों को नायक का मत,—और निर्णय,—स्पष्ट शब्दों में सुना देंगे।'

एंटिनो खड़ा हो गया। एक गिलास खींचा, कुछ शराब उसमें उँडेली, फिर अपनी कुर्सी के पास आकर, पतलून की जेब में एक हाथ डाल कर बोला—'किन्तु मैं कहता हूँ, बँट जाकर हम गिरेंगे, एक रहने में हमारी विजय है। हम में फूट पड़े, इससे कहीं अच्छा यह है कि हम अपने सिद्धान्तों में तनिक अवकाश रखना सीखें, और अपने मत को बहुत तंग और बहुत अन्तिम न बना दें।'

यह कह कर एंटिनो ने गिलास ओठ से लगा लिया।

गिडिटो एकटक अपने सामने देखता रहा, बोला नहीं।

लारेंज़ो ने जवाब दिया—'अनुशासन एक चीज़ है। उसमें ढील आई कि संगठन भी ढीला हुआ। हमें ऐसा ऐक्य चाहिए जो हमारे कर्तृत्व को पुष्ट करे। कर्तृत्व को खोकर मेल बढ़ाने से हम न बढ़ेंगे। हमें विभिन्नता का ऐक्य न चाहिए। हमें एकता का ऐक्य चाहिए। हमारा मत एक हो, काम एक हो, लगन एक हो। और इसका नाम है शक्ति। हमें वही चाहिए, और हम उसे कड़ाई से अनुशासन में बाँध रखेंगे, बिखरने न देंगे।...'

इतना कहकर लारेंज़ो ने भी अपना गिलास सम्भाला।

एंटिनो ने कहा—हम ख़बरदार रहें कि हम अपने ऊपर बहुत ज्यादा ज़िम्मा न ले लें। मतैक्य असम्भव है। जिस राह से यह सम्भव है, उसका नाम है बलात्कार, दमन, निरंकुश एकतन्त्रता। क्या हम छत्र-तन्त्रता को मिटाकर स्वतन्त्रता को धरती पर ला देने

के व्रती होकर ही यहाँ नहीं जमा हुए ? फिर क्यों हम ही अपने बीच निरंकुश एकतन्त्रता-सी खड़ी कर रहे हैं ?'

गिडिटो ने स्थिर भाव से कहा—'क्या हम बहस ही करें ? क्या हम निर्णय न करें ? निर्णय तो करना ही होगा। दायित्त्व से डरना कापुरुषता है। निर्णय एक ही तरह का होगा ! केवल निर्णय-हीनता ही है, जिसमें किसी को असन्तोष न हो; निर्णय में विरोध अनिवार्य है। सबको सब-कुछ मानने और सब-कुछ करने देना ही तो भला है, हम निर्णय न करें। सब को सब-कुछ मानने और सब-कुछ करने देना था, तो भला था, हम समिति न बनाते, आडम्बर न करते, सीधी तरह घर बैठते; लेकिन नहीं, एक बार, एक जगह, एक शपथ के नीचे हम इकट्ठे हुए। तो अपनी जो-कुछ मानने और जो-कुछ करने की स्वतन्त्रता को होम कर इकट्ठे हुए। अपने को मिटाकर आज यहाँ हम जमा हैं। इसलिए हमारी अपनी स्वतन्त्रता कुछ नहीं है। आज देश की स्वतन्त्रता पर हमने अपनी स्वतन्त्रता को वारा है, धन्य होकर वारा है और इस तरह एक प्रकार की परतन्त्रता को अपने ऊपर स्वीकार कर एक बृहत् स्वतन्त्रता को हमने अपने लिए पहचाना और अपनाया है।...अब हम क्या निर्णय करें ? निर्णय का बोझ हम अपूर्ण प्राणियों के ऊपर पड़ा है, तो क्या हम उसे कन्धे पर से फेंक कर चलते बनें ? जानता हूँ, बोझ भारी है। पर फेंक कर भागना भी नहीं हो सकेगा। अपनी परिमित बुद्धि के अनुसार ही हम फ़ैसला करेंगे, और अपने को दी गई शक्ति के अनुसार उसे पूरा भी करेंगे। पर हम सतर्क रहें उसमें हमारा अपना कुछ न हो, अहंकार की गन्ध न हो, प्रभाव न हो, मोह न हो। ठीक का ठेका कौन ले सकता है; पर इतना कर चुकने पर, हमारा निर्णय गलत होगा,

तो मानो हम उसकी गलती से अलिप्त रहेंगे। पर, चूँकि हमारे निर्णय के अन्ततः गलत होने की सम्भावना असम्भव नहीं है, इसलिए हम निर्णय करने की ज़िम्मेदारी से ही छूटें, यह नहीं हो सकता।...और जहाँ तक मेरी गति है, वहाँ तक देखकर मैं कहता हूँ कि बेंज़िलो ने जो किया है वह करके भूल ही की है; तब, यह देखने और मानने के बाद उस भूल को बढ़ा देना हमारे लिए किसी प्रकार भी क्षम्य और सम्भव न होगा।'

ऐंटिनो ने उत्तर न दिया, वह शराब ढालता रहा। लारेंजो भी इसी में व्यस्त हो रहा।

गिडिटो खड़ा हो गया, नक़्शे के सामने आ रहा और उसे आँख गाड़ कर देखता रहा, देखता रहा। मानो बेंज़िलो के भाग्य को उस नक़्शे में से पढ़ लेना चाहता था।

: ४ :

सन्ध्या हो गई है। कमरे में गिडिटो अकेला है। वह प्रतीक्षा में है—कालेज चार घण्टों का खत्म हो चुका, बेंजिलो अब तक कहाँ रहा? लौटा नहीं! खाना ठण्डा हो रहा है। कमरे के छज्जे पर आकर उसने सड़क के दोनों तरफ़ आँख फैलाकर देखा। बेंज़िलो का कहीं पता नहीं!

वह आकर पलँग पर बैठ गया। किताब खोल ली; लेकिन पाँच ही मिनट में किताब बन्द कर देनी पड़ी। किताब के अक्षर जैसे तैरने लगते थे; उसका मन जैसे भागा-भागा फिरता था।

लैंड-लेडी को बुलाया; कहा—'खाना परोसने की अभी ज़रूरत नहीं; लेकिन तैयार रहना चाहिए।' इतना कहकर जो हाथ पड़ा वही टोप ले, पिस्तौल जेब में डाल बाहर आ निकला और मैरिथ

के यहाँ पहुँचा।

मैरिथ वह है, जो यदि गिडिटो न होता तो बेंज़िलो की विवाहिता होती। बेंज़िलो रोज़ इसके यहाँ अता है और चला जाता है। मैरिथ अपने धनी माँ-बाप को छोड़कर यहाँ अपने काम पर अकेली रहती है—और अपने दिन की राह देखती रहती है।

वह कुलीन है, और अपनी कुलीनता पर लज्जित है। सुन्दर है, और अपने सौन्दर्य को रूखा रखती है। कुलीनता के सम्बन्ध में वह अपने को बिलकुल उदासीन नहीं बना सकी है, और सौन्दर्य के बारे में सर्वथा अजानकार नहीं है। वह अपने से तँग है। वह पुरुष हो रहना चाहती है, क्योंकि वह स्त्री है। उसकी वृत्ति जोखम ढूँढती है। समिति की वह अत्यन्त तत्पर सदस्या है। उसे चैन नहीं है, इसलिए वह सदा उद्यत और गतिशील है। निम्नता में आकर्षण खोजती है; क्योंकि निम्नता में उसे प्रीति नहीं है; क्योंकि वह निम्न नहीं है! वह घर ही पढ़ी है, और ललित कला में उसने विशेष अभिरुचि पाई है। संगीत सीखा है, और चित्र बनाए हैं। ताज़े और हरे अपने स्वर-पर्ण के दोने बनाकर उसमें अपने भीतर का सुर्ख दर्द बूँद-बूँद खींच कर, भर कर रख दे कि किसी के ओठ उसे चखें—वय पाकर भूली-भटकी एकाकी घड़ियों में यह भी उसने किया है; पर यौवन जब प्रमत्त था और स्वीकृति चाहता था और भीतर लहू की बूँद-बूँद मानो अपना रंग देखने के लिए मचल रही थी, तभी विधि ने उसकी अजेयता पर एक ठेस पहुँचाई। तभी क्रान्ति का कठोर कर्म-सन्देश उसे सुन पड़ा। उसने अपनी तूलिका तोड़ दी, वायलिन फेंक दी, और देश को स्वतन्त्रता के अर्थ मरने के लिए जीने के इरादे से अपने खाली मन को भर कर वह रहने लगी।

ऐसे ही समय बेंज़िलो पथ-प्रदर्शक बन कर उसके जीवन में आ मिला। बेंज़िलो ने उसके इरादे के सामने कर्म की राह खोल-कर मानो बिछा दी। यहाँ चलना ही चलना है। यहाँ करते रहना है, और मरते रहना है। अपने को याद करते हुए रहने की बात यहाँ नहीं है; अपने को सर्वशः भूलकर यहाँ रहना होगा। जीवन इतना थोड़ा है कि मौत के कामों को पूरा करते रहने के उसके कर्तव्य में से निकाल कर एक भी अवकाश का क्षण जीवन को अपने लिए नहीं दिया जा सकता!

और उसका परमात्मा जानता है, वह यही माँगती है। वह यही माँगती है। वह एक भी क्षण नहीं चाहती। चाहती है, एक क्षण भी उसे न मिले। एक भी क्षण उससे कैसे उठाया जायगा? क्योंकि उसका क्षण उसका युग है। और उसकी तूलिका टूट चुकी है, और वायलिन फिंक चुकी है—अब वह उस क्षण का क्या बनायेगी?

वह अपना मन, प्राण और समय किसी पर डाल कर ही तो जी सकती है; क्योंकि वह क्या रह गई है जो कुछ अपने पास रख सके? किसी के लिये जीना चाहती थी—जब वह खो गया है तो वह अब मौत के लिये जियेगी और देश के लिये मरेगी।

इसलिये—'इन्क़लाब ज़िंदाबाद'। वह सबसे अपने को तोड़ इन्क़लाब के लिये रहेगी; इस अनुष्ठान में बेंज़िलों से दीक्षा का ऋण लेगी और उससे उऋण होने में लगी रहेगी। क्रान्ति पर अपना जीवन वारेगी। देश पर अपने को भूल जायगी!

और कुछ ही दिनों बाद, अपने घर से अलग इस स्थान पर उसने अपने को समिति में और समिति के काम में पाया।

पर, हाय!

यहाँ भी गिडिटो...

: ५ :

गिडिटो ने कहा—'मैरिथ, बेंजी अभी घर नहीं पहुँचा! क्या यहाँ भी नहीं आया?'

मैरिथ—'नहीं, यहाँ तो नहीं आया। पर तुम आओ, बैठो। शायद आता हो।'

'बैठने की फुर्सत तो कम है।'

'क्यों जी, बेंज़िलो को अपने हाथ में रखने से क्या तुम्हारी मुट्ठी पूरी भर जाती है? क्या उसमें और किसी के लिये समाई नहीं है?'

'मैरिथ, बेंजी ने अपना सारा प्यार तुम पर वार दिया है। इटली को स्वतंत्र होने दो; देखो मैं खुद अपने हाथों तुम्हारा ब्याह करूँगा। उससे पहिले ब्याह करके बेंजी अपना नाश कर लेगा। मैरिथ, वह नेपोलियन बनना चाहता है—नेपोलियन!'

'और, क्यों जी, तुम क्या बनोगे? तुमने अपना प्यार किसी पर वार रखा है?'

'सो तुम नहीं जानतीं?—नेपोलियन पर!'

'तुम भी आदमी हो!'

'कौन कहता है? मैं स्त्री होता तो ज्यादा ठीक रहता।···अच्छा अब मैं चला।'

'तनिक ठहरो तो। बेंजी आना ही चाहता होगा! इतने, थोड़ा आतिथ्य ही स्वीकार कर लो।'

'अच्छा लाओ, पाँच मिनट बैठता हूँ। लाओ क्या देती हो?'

'नहीं, उतवाले मत बनो। लेकिन हाँ, तुम शराब तो पीते ही नहीं।'

मैरिथ ने कुछ रूखे बिस्कुट ला रखे। बिस्कुट की जल्दी-जल्दी में नक्क़ाशीदार चीनी की एक बढ़िया तश्तरी गिरकर फूट गई। दो-तीन बिस्कुट भी गिरकर चूर हो गए। बिस्कुट रख कर मिनट-भर में पड़ोसी से टोस्ट और चाय ले आई।

सब कुछ चखकर गिडिटो ने घड़ी की तरफ देखकर कहा—'ओह! अब तो जाना ही होगा। क्षमा!'—कहकर प्रतीक्षा नहीं की; उठकर सीधा चल दिया।

'ठहरो तो,...अरे, ठहरो...अच्छा बस, पाँच मिनट!'

'अब नहीं मैरिथ, देखो बना तो फिर आऊँगा।'

गिडिटो नहीं ठहरा। ज़ीने पर उतरते-उतरते उसने मन में कहा—'मुग्धा मैरिथ!'

: ६ :

गिडिटो फिर सड़क और गली, गली और सड़क लाँघता हुआ एक अँधेरी गली में जा पहुँचा। और वहाँ से फिर उस कमरे में जहाँ सभा जुड़ी हुई थी। बेंज़िलो अध्यक्षासन पर तमतमा रहा था।

गिडिटो जब वहाँ दाखिल हुआ तो सभा एकदम रुक गई। अयाचित उसका पहुँचना शायद वांछनीय न था।

अध्यक्षासन पर से बेंज़िलो ने कहा—'गिडिटो, किसकी इजाज़त से तुम अन्दर आए?'

'बेंजी, चलो खाना ठण्डा हो रहा है। पहले खा लो, तब और कुछ करना।'

'गिडिटो, बेवकूफ मत बनो। कैसे तुम यहाँ घुस आए?'

'इन्तज़ार करते-करते। नहीं तो रात-भर बैठा रहता क्या? भूख लगी, तुम्हें ढूँढ़ता-ढाँढ़ता चला आया।'

'भाड़ में जाय तुम्हारी भूख। मैं ज़रूरी काम कर रहा हूँ।'

'कोई ज़रूरी काम नहीं है। अभी तो तुम्हारा खाना सबसे ज़रूरी है।'

'गिडिटो, मैं प्रेसीडेंट हूँ। कहता हूँ तुम अभी चले जाओ।'

'तुम्हें कुछ ख़याल भी है? कालेज खत्म हुए पाँच घंटे हो चुके! तब से भूखे हो, कुछ नहीं खाया। तुम्हें भूखे छोड़कर मैं कैसे चला जाऊँ?'

'गिडिटो, बेवकूफी करोगे तो सख़्ती करनी पड़ेगी।'

'करो सख़्ती, कौन मना करता है। पर परमात्मा के लिए भूखे मत रहो।'

बेंज़िलो ने झल्लाकर कहा—'बेंजमिन, गिडिटो को हम यहाँ नहीं चाहते। तुम उसे बाहर निकाल सकते हो?'

बेंजमिन नाम का व्यक्ति उठा। उठकर देखा और फिर बैठ गया—'जी नहीं।'

'नहीं!'—अध्यक्ष ने कहा,—'कोई है जो इसे बाहर कर दे?'

दो व्यक्ति आगे बढ़े। वह काफ़ी पास आ गए कि गिडिटो ने रिवाल्वर उनकी तरफ़ तानकर कहा—'चलो, लौट जाओ अपनी जगह पर! खबरदार, जो कदम भी आगे रखा।'

फिर बेंज़िलो के पास पहुँचकर और उसकी बाँह पकड़ कर कहा—'चलो बेंजी, तमाशा न करो। घर चलो।'

बेंज़िलो ने उसे ज़ोर से धकिया दिया। गिडिटो गिरते-गिरते बचा। इतने में ही सभा के दो-तीन सदस्य उसकी तरफ़ लपके।

उसने भीतर की जेब से एक तिरंगा कपड़े का टुकड़ा निकाला और दोनों हाथों से ऊपर उठाकर चिल्लाया—'सभ्यो, यह देखो। देखकर चाहो तो गोली मार दो,—मेरे दोनों हाथ ऊपर हैं। नहीं तो उसका सम्मान रखो और इस सभा को बरखास्त कर दो।'

सभ्य, जो बड़े असभ्य हो रहे थे, अब सब-के-सब सुन्न बैठ गये।

'सुनो! नायक की आज्ञा है, यह सभा यहीं बरखास्त होती है। मेरे तीन कहते-कहते सब यहाँ से चले जायँ। ए...क। दो...।...'

कमरा बिलकुल खाली था।

गिडिटो ने अब बेंजिलो से कहा—'चलो बेंजी, खाना खाने चलें।'

बेंजिलो भौचक था। पूछा—'तो नायक तुम हो?'

'हूँ तो हूँ,—पर चलो, भूख लग रही है।'

'कहाँ चलूँ?'

'घर।'

'मैरिथ के यहाँ नहीं?'

'वहाँ चाहो, वहाँ जाओ।'

'तुम न चलोगे?'

'मैं अभी वहीं से आया था।'

'मैरिथ के यहाँ से आए थे?'

'हाँ।'

'अब न जाओगे?'

'नहीं।'

'घर पर मिलोगे?'

'ज़रूर।'

'मैं घर पर न आया तो ?'

'तो बुरा होगा।'

'क्या होगा ?'

'तो मैं घर पर न आ सकूँगा।'

'न आ सकोगे ?—कहाँ रहोगे ?'

'सो बतलाने की जरूरत नहीं।'

'तो मैं भी साथ चलता हूँ।'

दोनों साथ मैरिथ के स्थान की ओर चले।

मैरिथ के घर पर—

वें०—मैरिथ, तुम्हें पता है हमारे नायक गिडिटो महाशय हैं ?

मैरिथ को यह पता न था; पर यह पता था कि वेंज़िलो नायक के प्रति बहुत सद्भावना नहीं रखता। नायक के नरमपन, ढीलेपन और सुस्ती पर वेंज़ो अपने तीक्ष्ण-कटु विचार मैरिथ के सामने कई बार उत्तेजना के साथ प्रकट कर चुका था। इसलिए जब गिडिटो के नायक होने की सूचना उसे मिली, तो वह प्रसन्न न हो सकी। न जाने क्यों, उल्टी पीली पड़ गई। उसने आतंक से गिडिटो की ओर देखा। इस दृष्टि में भरे प्रश्न को अच्छी तरह न समझकर उसने कहा—'नायक कितना भोला भलामानस है, यह तुम शायद जानते ही नहीं ?'

वेंज़िलो ने कहा—'मैं खूब जानता हूँ। उसके भोलेपन पर मैरिथ के सामने कई बार तरस खा चुका हूँ।'

इस पर मैरिथ फिर दहल-सी उठी। कुछ लेने गई तो गिडिटो के कान में कह गई—'खबरदार रहना' लौट कर आई तो गिडिटो ने कहा—'वेंज़ी, क्या नेपोलियन से खबरदार रहना होगा ?'

बेंज़िलो ने उत्तर दिया—'नेपोलियन खुद अपने को नहीं जानता। लेकिन ख़बरदार रहना अच्छा ही है।'

काफ़ी रात बीते वे अपने डेरे को चले। पर रास्ते में ही न जाने कब, बेंज़िलो बे-पता हो गया।

: ७ :

रात अन्धेरी है, सुनसान है। पतलून की दोनों जेब में पिस्तौल है। बेंज़िलो महल के दरवाज़े तक आ गया है। दरवाज़े पर सन्तरी टहल-टहल कर पहरा दे रहा है।

बेंज़िलो के आने पर सन्तरी ने सलाम किया।

'सब ठीक है?'

'बिलकुल।'

'उसी कमरे में?'

'हाँ।'

रास्ते में जितने मिले उनमें से किसी का अभिवादन लेकर किसी को फुसला कर, कुछ को डरा-धमका कर और बाक़ी बचे दो एक को ठंडा कर के बेंज़िलो, उस कमरे के दरवाज़े पर आ गया। कमरा प्रकाशित था। एलबर्ट अकेला रहता था, अभी तक उसने ब्याह न किया था।

बेंज़िलो ने केवल झपे हुए दरवाज़े को खोलकर कहा—'आ सकता हूँ?

उत्तर मिला—'आइए।'

उत्तर सुनने-न-सुनने की परवाह किये बिना वह अन्दर दाखिल हो गया।

एलबर्ट इतनी रात गए भी एक कुर्सी पर बैठा था। सामने

छोटी-सी मेज़ थी। उस पर कुछ कागज़ एक रंग-बिरंगे बहुत बड़े शंख से दबे हुए थे। पास ही एक ऊँचे स्टूल पर शेडदार लैम्प था, जो अच्छा खुशनुमा था; पर राजाओं के लायक बिलकुल न था। एलबर्ट का सिर अपने दोनों हाथों में थमा हुआ था। एक कोहनी मेज़ पर रखी थी, दूसरी कुर्सी की बाँह पर। उसके माथे पर बल थे। ऐसे बैठे-ही-बैठे अनायास ही उसने 'आइए' कहा था।

आगत व्यक्ति को जब उसने देखा, तो वह बिलकुल बदल गया। हाथ दोनों कुर्सी की बाहों पर आराम करने लगे। सिर सीधा हो गया, और वह थोड़ा हँसा।

'ओहो, बेंज़िलो हैं!—मैं तो तुम्हें भूला जा रहा था।'

'मैं भूलने दूँ तब न!'

'यह भी ठीक है। आज शाम को मुझे खबर मिली थी कि आप रात को दर्शन देंगे; पर अभी-अभी तो मुझे इसका ध्यान उतर ही गया था।'

'आपकी ख़बर ठीक थी। क्या इसके आगे और कुछ ख़बर भी थी?'

'उसे मैं आप से जानने की आशा रखता हूँ।'

'आशा तो आप ग़लत नहीं रखते।'

'तो आज्ञा हो मेरे लिए—'

'एलबर्ट, अभी जल्दी काहे की है? तुम्हें जल्दी हो तो बात दूसरी।'

'बड़ा सन्तोष है कि आपको जल्दी नहीं। नहीं तो जल्दी आपके मिज़ाज में एक ख़ास चीज़ है। फिर निश्चय के बाद देरी का कारण भी क्या?'

'एलबर्ट, मालूम होता है, तुम अपने भाग्य से परिचित हो।

शायद समझते हो, प्रयत्न करने से भाग्य तो टलेगा नहीं, इसीलिए इस तरह यहाँ निश्चिन्त बैठे हो। पर भाग्य को तुम्हारे प्रयत्नों की या निश्चिन्तता की कुछ भी परवाह नहीं।'

'बेंज़िलो, तुम जानते हो, मैं भाग्य में विश्वास करता नहीं; पर अब मालूम होता है, जैसे उसे मानना अच्छा है! मुझे भी विश्वास होता जा रहा है,—होनहार टलता नहीं।'

'जाने दो, इन बातों को। तुम आज राजा हो, कल हमारे साथ मिलकर राजा की दुश्मनी का दम भरते थे! यह क्या धोखा नहीं है,—और तुम इस पर दुख नहीं करते?'

'यही तो मुश्किल है कि अफसोस मैं नहीं कर पाता। धोखा-धोखा मैं जानता नहीं; लेकिन मालूम होता है, इस तरह इटली के लिए मैं शायद कुछ कर सकूँ।'

'एलबर्ट, तुम्हें शरम नहीं आती? राजा बने बैठे हो, जब कि सैकड़ों-हज़ारों तुम्हारे साथी तुम्हारी ही जेलों में सड़-गल रहे हैं। तुम्हारे देशवासी गुलामी और दरिद्रता के नीचे कुचले जा रहे हैं, तब तुम ऐशो-इशरत में पड़े हो, और आस्ट्रियन के जूते के नीचे अपने उन भाइयों पर हुकूमत चलाते हो?'

'भाई, लाज आती ही नहीं, तो क्या करूँ? मैं उसे ज़बरदस्ती बुलाने की आवश्यकता नहीं समझता। आज इस कुर्सी पर से सब देश-सेवकों को नहीं, तो कुछ को तो मैं जेल से छुड़ा ही सकता हूँ; पर तुम क्या कर सके हो, क्या कर सकते हो?...और यह कुर्सी महल में तो रखी है; पर खूब देख लो, बिलकुल मामूली है। क्या आधी-रात तक ऐसी कुर्सी पर जागते बैठना तुम्हारी निगाह में पाप है? और तुम यह नहीं जानते कि हुकूमत करने वालों को

अपने सिर पर का जूता ज्यादा खलता है। क्या मैं तुम्हें बताऊँ कि आस्ट्रियन मुझ से जितना डरते हैं,—तुम से उतना नहीं।'

'तुम आज गद्दी के मोह में पड़कर इटली को बेच रहे हो।'

'शायद।'

'तुम यह नहीं समझते ?'

'अभी तक नहीं।'

'लेकिन तुमको समझने के लिए ज्यादा वक्त नहीं दिया जा सकता।'

'ठीक है, मैं पहले ही काफ़ी ले चुका हूँ।'

'लेकिन तुम्हें अपना अधिकार है, राष्ट्र को खो देने का नहीं।'

'राष्ट्र को न समझने का जैसा तुम्हें अधिकार है, वैसा मुझे भी तो उसे समझने का अधिकार है।'

'हम इसको बर्दाश्त नहीं कर सकते।'

'बर्दाश्त की आदत पैदा करनी चाहिए।'

'वह आदत अभी पैदा करने का वक्त नहीं है। अभी समय है कि अपनी गति पर पछताओ, लजाओ, और पीछे मुड़ो।'

'नहीं तो ?'

'...नहीं तो परिणाम भयँकर होगा। हम अपने देश का नाश नहीं देख सकते।'

'बेशक तुम अपने देश का नाश या लाभ नहीं देख सकते।'

'जो हो, अब वक्त कम है। बोलो क्षमा,—या दण्ड ?'

'तुम्हें ऐसा अधिकार किसने दिया ?'

'समझो कि पहली घड़ी से जीवन की अन्तिम घड़ी तक एक—बस एक— राष्ट्र की चिन्ता रखने वाले तरुणों ने।'

'तो उनसे कहो, उन्होंने भूल की। ऐसा अधिकार परमात्मा के हाथ से छीनने की आवश्यकता नहीं।'

'खैर, हुआ'—इस भाव से और इस ध्वनि से बेंज़िलो ने कहा—'बोलो, क्षमा या दण्ड ?'

'दण्ड या पुरस्कार जो भी होगा ज़रूर मिलेगा; पर क्षमा !.... क्षमा नहीं।'

'क्षमा नहीं ?...'

यह कहकर उसने जेब में हाथ डाल दिया। एलबर्ट ने सब कुछ देखा। वह भी देखा, जो बेंज़िलो नहीं देख पा रहा था। बोला—बेंज़िलो, एलबर्ट में सीज़र का खून है, और इटली का देश-प्रेम है। क्षमा नहीं।

'नहीं ?—तो लो।'

यह कहा और पिस्तौल खींच ली। इतने में ही किसी ने कस कर बाँह को पकड़ लिया। घोड़ा दबा। गोली शेड और लैम्प को चूर-चूर करती हुई निकल गई। रोशनी बुझ गई। गुप्प-अन्धेरा हो गया।

गिडिटो ने पिस्तौल बेंज़िलो के हाथ से छीन कर फेंक दी। वह झनझनाकर फ़र्श पर पड़ी।

कुछ भी न दीख पड़ रहा था। बेंज़िलो ने कहा—'कौन है ? अलग हट जाओ, नहीं तो सिर फोड़ दूँगा।' इतना कहकर दूसरी जेब में हाथ डाल दिया।

गिडिटो ने एक ज़ोर की चपत उसकी कनपटी पर जड़ दी।

'कम्बख़्त।—यहाँ आया है मरने। चल घर, चल भाग।'

जब चलने और भागने में देर लगी तो कान पकड़ कर उसे

ढकेलते हुए कहा—अरे भागता है या नहीं ? भाग जा झटपट, नहीं तो मर जायगा।'

इतने ही में एक गोली सनसनाती हुई गिडिटो की बाँह को आर-पार कर गई और बेंज़िलो भाग गया।

*　　　*　　　*

शोर मचाकर जब नौकर-चाकर सिपाही-प्यादे इकट्ठे-के-इकट्ठे वहाँ हाज़िर हुए और रोशनी की, तो गिडिटो बाँह पकड़े जहाँ का तहाँ खड़ा था, और एलबर्ट कुरसी पर वहीं का वहीं पिस्तौल ताने बैठा था।

गिडिटो पकड़ लिया गया।

बेंज़िलो बेतहाशा घबड़ाया-सा दौड़कर जब सदर दर्वाजे के बाहर आया, तो किसी ने पुकारा—'बेंज़ी।'

देखा कि सामने मैरिथ चिन्ता-व्यग्र खड़ी है। मैरिथ ने पूछा—'बेंजी, गिडिटो कहाँ है ?'

'गिडिटो ?'

बेंज़िलो की घबराहट मैरिथ से छिपी न रह सकी। उसने जोर देकर कहा—'हाँ, गिडिटो।'

'वह तो मुझे अन्दर नहीं मिला।'

'अन्दर नहीं मिला !'

'मुझे नहीं मालूम।'

उसने चिल्लाकर पूछा—'नहीं मालूम ?'

'नहीं !...लेकिन तुम इस वक्त यहाँ कहाँ घूम रही हो। चलो घर चलें।'

'गिडिटो रात-रात भर तुम्हारी तलाश में घूमे,—और तुम्हें

अब चैन की सूझे। ऐसे ही हो तुम?...सच बताओ गिडिटो कहाँ है?'

'मुझे कैसे मालूम?'

'यहाँ ख़त्म हो जाओगे।—बोलो नहीं मालूम?'

बेंज़िलो ने देखा, पिस्तौल सीधी उसके मुँह की तरफ़ तनी है, मैरिथ की आँखों में जैसे वज्र-काठिन्य जल रहा है। वह खुद निहत्था था, दूसरा पिस्तौल भी वहीं छूट गया था। उसने कहा—'मालूम होता है, मैंने उसे गोली मार दी है।'

मैरिथ इस पर एक चीख़ छोड़कर और रिवाल्वर बेंज़िलो के ऊपर फेंक कर अन्दर भाग गई। वह भरी पिस्तौल छूटी नहीं, उसके बदन से लगकर धरती पर गिर पड़ी।

बेंज़िलो ने उसे उठा लिया।

* * *

अन्दर जाकर मैरिथ ने देखा, गिडिटो को कई रक्षक हथकड़ी डाले लिये जा रहे हैं। वह बाँह को कसकर पकड़े है। उसने जब मैरिथ को देखा, तो कहा—'मैरिथ! तुम यहाँ कहाँ? बेंजी तो तुम्हें याद कर रहा था। जाओ उसकी देख-भाल करना। कहीं वह रो-रोकर मर न जाय।'

मैरिथ गई नहीं, वह वहीं खड़ी देखती रही।

'धित्, यह क्या आँखें फाड़ रही हो।...जैसे बेंज़ी मैं ही हूँ। चलो, जाओ, बेंजी को ढूँढकर उसे सांत्वना दो!'

वह फिर भी नहीं गई।

'मैरिथ, देखो, नहीं जाओगी तुम?"

मैरिथ चुपचाप चली गई।

: ८ :

गिडिटो के खिलाफ़ प्रमाण संगीन थे। वह रात को महाराज के कमरे में पाया गया है। बाँह में गोली का घाव है। जेब में एक पिस्तौल मिली है। इतना होने पर भी वह छूट गया। एलबर्ट का इस सम्बन्ध में खास आज्ञा-पत्र प्राप्त हुआ था।

घर पर आकर उसने देखा, बेंज़िलो का सब सामान अस्त-व्यस्त पड़ा था। उसके दिल में एक अज्ञात आशंका घर कर बैठी। वह मैरिथ के पास गया। बेंजी वहाँ न था। गिडिटो ने डाँटा; मैरिथ ने अपनी कर्त्तव्यपरता जताते हुए, क्षमा माँग कर कह दिया—'मैंने बहुतेरा ढूँढा, मुझे वह नहीं मिला।'

गिडिटो ने कहा—'और ढूँढो, मैरिथ। जब तक न मिले, तब तक ढूँढो।'

'ढूँढूँगी तो; पर तुम भी कहीं खो न जाना।'

'मैं नहीं खोऊँगा,—पर उसे तो पाना ही होगा।'

'जो कहोगे, सो करूँगी; लेकिन कहे देती हूँ, वह बहुत जीता न रहेगा।'

'यह तो मैं भी जानता हूँ; लेकिन ऐसे रूठ कर तो वह न जाने पायगा।'

'गिडिटो, तुम ऐसे-ऐसे क्यों हो रहे हो?'

'मैं कुछ भी नहीं हो रहा। मैं यह सोच रहा हूँ कि बेंजी के अब नेपोलियन बनने का अन्त आ गया है। मेरे पास बहुत सुख था; अब मेरा सुख का आधार छिन जायगा। और, मैरिथ तुम्हारा सोहाग....'

'ठहरो गिडिटो! मेरे सोहाग की तुम चिन्ता करते होते तो

क्या बात थी ? मैं जानती हूँ, मुझे अपने सोहाग का अर्घ्य किसकी वेदी पर चढ़ाना होगा। वह देवता स्वीकार करें या तिरस्कार कर दें, अर्घ्य तो समर्पण के ही लिए होता है।'

'तो मैं तुम्हारे बेंजी को ढूँढने जाता हूँ।'

कहकर वह चल दिया। मैरिथ ने सुना-सुना कर कहा—'जाओगे तो हो ही। मेरे कहने से रुकने वाले तुम थोड़े ही हो।'

: ६ :

गिडिटो के कमरे में—

गि०—'छिः, बेंजी, इस तरह भागा करते हैं !'

बे०—'तुम बार-बार इतने बड़े क्यों बनते हो ? मुझे इस पर बहुत खीझ उठती है।'

गि०—'मैं बड़ा बनता हूँ ! बोलो, कहो तो तुम्हारे जूते साफ कर दूँ।'

बे०—'तुमने मुझे थप्पड़ क्यों मारा था ?'

गिडिटो ने यह नहीं कहा कि थप्पड़ गोली से बहुत छोटा है। उसने कहा—'बस यही बात है ? तो यह लो, जितने चाहो मेरी पीठ पर जमाओ।'—यह कहकर बेंजी के पास एक बेंत रख दी।

'गिडिटो, तुम बड़े होशियार हो ; लेकिन मैं तुम्हें बड़ा मानूँगा ही नहीं।'

'तुम तो हो पागल। मुझे बड़ा मानो या छोटा मानो। बला से, कुछ भी मानो ; पर अपना मानो।'

'जितनी ही ऐसी बात कहोगे, उतना ही मैं तुम्हें दुश्मन समझूँगा।'

'अच्छा, दुश्मन ही समझो ; लेकिन अब मैरिथ के पास

जाओ। वह याद कर रही थी। नहा-धो लो और कपड़े बदल लो। कैसे मैले हो रहे हो!'

बेंज़िलो मन से चाहे कुछ भी कहे; पर ऐसी बातों में उसका गुज़ारा होता है गिडिटो की आज्ञाओं पर ही। वह स्नान के लिये चला गया।

गिडिटो ने इतने में एक नया साफ सूट निकाल रक्खा। लौटने पर ठीक-ठाक करके उसे मैरिथ के पास रवाना कर दिया।

मैरिथ के घर का दरवाज़ा बन्द था। उसने नौकरानी को आज्ञा दी थी, कि जो आये, पहले उसे सूचना दी जाय। बेंज़िलो ने दरवाज़ा खटखटाया, नौकरानी मैरिथ के पास पहुँची। पूछा गया—'कौन है?'

'बेंज़िलो।'

'उनसे क्षमा माँग कर कहना, मेरे मस्तक में बड़ी पीड़ा है। फिर पधारें।'

नौकरानी के मुँह से जब उसने यह सुना, घड़ों पानी उस पर गिर गया। उसने सोचा—'गिडिटो ने मुझे यहाँ तक बेवकूफ बनाया! उसकी यह हिम्मत!'—घर जाकर सीधा पलंग पर पड़ गया। गिडिटो अनुपस्थित था।

: १० :

इधर गिडिटो नायक-गोष्ठी में आया है। वही कमरा, वे ही लोग।

लारेंज़ो—'बेंज़िलो का अपराध अक्षम्य है।'

एंटिनो—'मैं मानता हूँ, समिति के नियमों के अनुसार उसने बहुत बड़ा अपराध किया है; किन्तु नियमों में संशोधन की बहुत

आवश्यकता है, उनमें जकड़े रहने की इतनी आवश्यकता नहीं है।'

ला०—'नियम नियम हैं और जब तक वे बदल नहीं जाते, उनका उल्लंघन सर्वथा दण्डनीय है।'

गिडिटो—'अपराध गुरुतम हो, तो वह हमेशा विचारणीय है। इसके विचार और फैसले के लिये एक की बुद्धि पर निर्भर रहना ठीक नहीं मालूम पड़ता। मैं तीन आदमियों की दण्ड-समिति को इसका भार सौंप देना चाहता हूँ।''''भाई एंटिनो की क्या राय है ?'

एं०—'अपराधी के हित की रक्षा में यह सबसे उत्तम उपाय है।'

गि०—'भाई लारेंज़ो ?'

ला०—'न्याय-सिद्धि की इसमें पूर्ण आशा है।'

गि०—'मैरिथ, सिपियो, गैरिबाल्डी,—इन तीनों की दण्ड-समिति होगी। भाई एंटिनो अभियुक्त के पक्ष की ओर से वकील होंगे; भाई लारेंज़ो अभियोग की ओर से। मैं इससे सम्बन्ध नहीं रखना चाहता।'

एं०—'नायक को अपनी ज़िम्मेदारी से बचने का अधिकार नहीं होना चाहिए।'

ला०—'मेरा प्रस्ताव है कि दण्ड-समिति का फैसला नायक के हस्ताक्षर के बाद प्रामाणिक हो।'

एं०—'बिलकुल ठीक'

गि०—'आप लोग छोड़ेंगे नहीं। बड़ी अनिच्छा से यह भार भी मुझे अपने सिर लेना होता है। भाई एंटिनो इसका ध्यान रखें कि अभियुक्त को सूचना न हो। सबसे इस सम्बन्ध में समानता, बन्धुता और प्रजातन्त्र के नाम पर, इटली के मान-चित्र की छत्र-छाया में शपथ ले ली जाय।...सब को ध्यान रहे, परमात्मा की एक

विभूति को, एक परमात्म-खण्ड को, मारने या जीवित रहने देने का भार उन पर है।'

: ११ :

घर पर गिडिटो आया तो बेंज़िलो आँखें मूँदे सो रहा था। इस समय इस चेहरे में, जिसके झरोखे झप रहे थे, कैसा मनोमुग्धकारी भाव था! न गुस्सा था, न स्नेह था, न हास्य था, न कुछ था। बस, एक अमूल्य बालपन था, एक भोली स्वाभाविकता थी। उसे मालूम पड़ा, जैसे इस सौन्दर्य का यह अन्तिम क्षण है।

वह सामने कुर्सी ला कर बैठ गया। बेंज़िलो के बाल उसके माथे पर आ रहे थे। उसने उन्हें पीछे को सरका दिया। वह फिर वहीं आ गिरे। उसने फिर सरका दिया। अब की तीसरी बार उसने नहीं सरकाये। तीन-चार हिले-मिले बालों की इस उद्दण्ड लट को वह देखता रह गया। कैसे सुनहरे-सुनहरे-बाल थे। और सब-के-सब तो सिर पर अच्छी तरह लेटे थे, यही लट कैसी हठ करके उसके माथे के आगे आ-आ पड़ती थी।

गिडिटो ने उस लट के अगले सिरे को कैंची से काट लिया। फिर बाल के वे नन्हे-से टुकड़े उसने दराज़ से एक लाकेट निकाल कर उसमें बन्द कर दिये।

फिर अलग जाकर वह अपनी किताब पढ़ने लगा। लेकिन कौन जानता है, वह बेचारी किताब कैसी क्या पढ़ी गई!

: १२ :

गिडिटो और बेंज़िलो शतरंज खेल रहे हैं। गिडिटो हार-पर-हार रहा है, फिर भी जैसे हारना चाहता है! वह जैसे दिन-भर हर-एक से हारता रहना चाहता है।

बेंज़िलो, बेचारा बालक, झल्ला रहा है। इस शतरंज के वक्त वह सब-कुछ भूल जाता है। मात ज़रा-ज़रा-सी देर में हो रही है—इस पर उसे बड़ा गुस्सा आ रहा है।

'गिडिटो, क्या हो रहा है ? यहाँ चलोगे तो बुरी शह लगेगी।'

'अरे, हाँ !'

....

'अच्छा, यह लो, मात हो गई !'

'अच्छा, बेंज़ी, अबके लो, मिनटों में मैं तुम्हें मात कर देता हूँ।'

'मात क्या ख़ाक दोगे ?'

'ख़ाक-वाक मत चाहो जी, मात दूँगा—मात ! चारों खाने मात !'

'अच्छा।'

खेलना शुरू हुआ ही था कि सिपियो कमरे में दाखिल हुआ। गिडिटो पीला पड़ गया। बेंज़ी आगे की चाल सोच रहा था। गिडिटो ने कहा—

'बेंज़ी तुम नहाये नहीं ? घण्टों से शतरंज ही होती रही ? इसे यों ही बिछी रहने दो ! जाओ नहा आओ।'

'मैं कहता हूँ, तुमसे क़यामत तक मात न हो।'—बेंज़ी ने कहा।

'अच्छा नहा के आओ, फिर देखना।'

उसके चले जाने पर सिपियो ने फ़ौजी सलाम करके एक लिफ़ाफ़ा निकालकर पेश किया। गिडिटो ने फौरन उसे खोल लिया। लिखा था—

बेंज़िलो ने—

अ. नियम-विरुद्ध, नायक-गोष्ठी की बिना सूचना और आज्ञा के, अलग दल बनाना प्रारम्भ किया।

आ. समिति की नीति के ख़िलाफ़, नायक की स्पष्ट आज्ञा को तोड़कर, एलबर्ट की हत्या का प्रयत्न किया।

इ. इस प्रकार निरंकुशता और आज्ञोल्लंघन की प्रवृत्ति बढ़ाई।

ई. नायक को ख़तरे में डाला।

इसलिए—

प्राणदण्ड

इसके नीचे तीनों जजों के हस्ताक्षर थे। नीचे एक और नोट था—

'मैरिथ दण्ड की पूर्ति का भार खुद उठाना चाहती है। इसके स्वीकार करने में हम कोई आपत्ति नहीं देखते।'

इसके नीचे सिपियो और गैरीबाल्डी के हस्ताक्षर थे।

गिडिटो ने अभियोगों में (ई) का वाक्य काट दिया और अपने हस्ताक्षर कर दिये। सिपियो चला गया।

* * *

वेंज़िलो लौटा तो गिडिटो ने कहा—'शतरञ्ज बन्द करो। आओ कुछ खायें-पियें।'

'लैन्ड-लेडी' को बहुत ज़बर्दस्त आर्डर दे दिया गया। कई तरह की शराबें और सब-कुछ प्रस्तुत हो गया।

'गिडिटो, तुम शराब पीओगे?'—वेंज़िलो ने पूछा।

'हाँ-हाँ; सुनते हैं, इसमें बड़े गुण हैं।'—गिडिटो ने जवाब दिया।

दोनों ने जितना हो सका खाया और जितनी समा सकी शराब पी। फिर दोनों बदहोश सो गये।

: १३ :

मैरिथ की आयोजना से शनिवार के रोज़ झील की सैर के लिये जाने का निश्चय हुआ।

खाने का सब सामान साथ है। आज गिडिटो बिलकुल पीला पड़ा हुआ है, लेकिन हद से ज्यादा प्रसन्न मालूम होता है। दो-तीन घण्टे झील में किश्तियों से सैर हुई। इस सारे काल में एक मिनट भी तो वह शायद ही चुप रहा है। दुनिया-भर के किस्से-कहानियाँ, चुहलबाज़ियाँ उसे सूझ रही हैं। घड़ी-घड़ी पर उसे शराब की आवश्यकता पड़ती है।

बेंज़िलो इन बातों से झल्ला रहा है। बड़ी पैनी दृष्टि से वह इन बातों को देख रहा है, और फिर-फिर कर मैरिथ की ओर देख लेता है।

मैरिथ चित्र-सरीखा अपना एक जैसा चेहरा लेकर सब हँसी-खुशी में भाग ले रही है। क्या प्रलय उसके भीतर मच रही है,—कौन है जो उसे जान सकता है? न मालूम वह आज अपनी क़ब्र खोदने जा रही है या मुक्ति पाने जा रही है!

झील के उस पार जंगल में अब आ गये हैं। गिडिटो ने कहा—'बेंज़ी, देखो, हँसोगे नहीं तो मैं गुदगुदी मचा दूँगा।'

'क्या आज ही हँस लोगे?'

'और नहीं तो क्या रोज़-रोज़ हँसना मिलेगा?'

'ठीक है, शायद रोज़-रोज़ नहीं मिलेगा।'

'बेंज़ी, इस जंगल में कोई हमारी आवाज़ नहीं सुनेगा। आओ, खूब हँस लें, फिर इकट्ठे रो लेंगे।'

'गिडिटो, तुम आज बिलकुल जानवर जान पड़ते हो।'

'जान पड़ता हूँ ! बस ! अरे, तुम्हें मालूम नहीं, मैं हूँ ही जानवर ! लेकिन कहता हूँ, रोज़-रोज़ नहीं रहूँगा ।'

गिडिटो ने बहुत शराब पी ली थी। वह अब ऊटपटाँग बक रहा था। मैरिथ ने कहा—'बेंज़ी, इधर आओ। उन्हें अब आराम करने दो।'

बेंज़िलो ने यह सुना, गिडिटो के आराम के प्रति मैरिथ की व्यग्र चिन्ता और उत्कण्ठा देखी, गिडिटो को देखा और फिर कर अपनी ओर देखती हुई मैरिथ को देखा, और 'आता हूँ' कहकर गिडिटो पर पिस्तौल तान दी। पर छोड़े-ही-छोड़े कि एक गोली उसकी छाती में लगी। वह ढह पड़ा। उसकी गोली हवा में सन्-सन् करती हुई चली निकल गई।

बेंज़िलो कुछ भी बोल न सका। बात-की-बात में निष्प्राण हो गया। गिडिटो ने आगे बढ़कर, उसी ज़िद्दी बालों की लट को हटा कर, बेंज़ी के माथे पर एक चुम्बन ले लिया। कहा—'मैरिथ, अब उसे उठाओगी नहीं ?'

मैरिथ डर रही थी, गिडिटो न जाने क्या हो रहा था !

: १४ :

चर्च के घेरे की ज़मीन में एक बहुत गहरा गड्ढा खोदकर बेंजी की लाश उसमें रक्खी गई। फावड़े से गीली-गीली मिट्टी उस पर डाली गई। आठ फीट ऊँची चार फीट चौड़ी और आठ फीट लम्बी वह जगह मिट्टी से ऊपर तक भर दी गई।

समिति के सब सदस्य आये थे, और अब चले गये। किसी ने उस पर एक आँसू नहीं बहाया।

गिडिटो मुँह लटकाये खड़ा था—जैसे उसकी आँखों में का पानी और बदन में का खून सब सूख गया है।

बस, मैरिथ रो रही थी। बेचारे मृत बेंज़ी के लिए नहीं, किन्तु बेचारे जीवित गिडिटो के लिए।

सबके चले जाने पर गिडिटो ने आगे बढ़कर उस कब्र पर ताज़ी-ताज़ी पड़ी हुई मिट्टी का एक चुम्बन ले लिया। पास से एक फल को तोड़कर उसके सिरहाने रख दिया और गर्दन लटकाये हुए एक तरफ़ को बढ़ चला।

मैरिथ पीछे लपकी—चिल्लाई—

'गिडिटो!'

'हाँ'—यह हाँ जैसे उसी कब्र में से निकल रही थी।

'कहाँ जाते हो?'

'घर।'

'मेरे यहाँ नहीं?'

'नहीं।'

मैरिथ भी इस पर वैसा ही मुँह लटकाए दूसरी तरफ़ चल दी।

जनार्दन की रानी

सनातन काल में एक राजा जनार्दन थे। जब से लोग जानते थे तब से उन्हीं का राज था। उस राज से बाहर भी धरती है, ऐसा नहीं माना जाता था। अखिल भूखण्ड के वह एक -छत्र अधिपति थे।

राजा जनार्दन अपनी रानी से बहुत अभिन्न थे। उसी के लिए अपना जीवन मानते थे। रानी ही उनकी केन्द्र थी, सर्वस्व थी, स्वप्न थी।

राजा जनार्दन को राज करते शताब्दियाँ हो गईं। जैसे अन्यथा कुछ सम्भव न हो, यही सनातन विधान हो। तब सब अपने कर्तव्य में रहते थे और दूसरे के अधिकार की मर्यादा रखते थे।

एक दिन राजा ने प्रधान सचिव को बुलाया। कहा—'देखो, अब हम जायेंगे। एक कल्प बीत गया। हमको और ग्रहों में जाना है। जानते हो यह राज्य किसकी शक्ति से और किस के आशीर्वाद से चलता है?'

सचिव ने कहा—'महाराज के प्रताप से !'

राजा ने कहा—'नहीं मन्त्री, महारानी के श्रम और सेवा से। वही तुम सब जन की माता हैं। मैं जाऊँ तब उन्हीं के निमित्त तुम्हें रहना और उनके अनुकूल शासन-कार्य चलाना होगा। हर बात में उनकी ही सुविधा सर्वोपरि मानना।'

'आप कहाँ जायँगे महाराज ?'

'ब्रह्माण्ड अनन्त है, सचिव, और ग्रह-मण्डल अनेक। आवागमन तो लगा ही है।'

सचिव के अनन्तर राजा ने रानी से कहा—'आज मैं व्योम-यात्रा पर अकेला जाऊँगा, प्रिये; चिन्ता न करना।'

रानी ने कहा—'आज न जाओ, आर्य; शुभ योग नहीं है।'

राजा हँसे; बोले—'तुम साथ चली हो तब शुभाशुभयोग का ध्यान किया गया है, ऐसा याद नहीं आता। आज क्या है ?'

रानी बोली—'आर्य, जानते हैं आज क्या है ? आर्य इस बार लौटना नहीं चाहते हैं।'

'यह तुमने कैसे अनुमान किया, शुभे ?'

'मुझ से भी अधिक प्रिय है और श्रेय है, वहीं जाते होंगे। इसी से तो आर्य आज मेरा साथ नहीं चाहते हैं।'

राजा ने कहा—'यह सच है, शुभे ! तुम्हारे पार भी बहुत सृष्टि है। तुम रुष्ट तो नहीं हो ?'

'नहीं ! रुष्ट नहीं हूँ। आर्य रहे, इससे इतनी कृतार्थ हूँ कि जा रहे हैं, इसके लिए भी कृतज्ञ ही हो सकती हूँ। मेरा हित आर्य में है, और आर्य की स्मृति मेरी सम्पदा है। यह निधि मुझे बहुत है। मेरा सब आर्य का ही तो ऋण है।'

राजा ने कहा—'रानी, मेरे रहते तुम अपने को दासी रखे रहीं।

very interesting book

अब तुम को साम्राज्ञी बनना है। शुभे, इसी से जाता हूँ कि तुम अपने पद पर आओ। मुझे राजा समझा गया जब कि मैं अनुचर था। तुम दासी बनीं जब कि तुम अन्नदात्री थीं। शुभे, शक्ति की मूल तुम हो। तलवार के विजेता तो आंगन के खिलाड़ी हैं। वे ना-समझ बालक हैं। उद्दण्डता में वे तुम्हें न समझें, पर तुम अपने को समझोगी। अधीश्वरी तुम हो। यह बात मेरे रहते तुम जानने को इन्कार करती रहीं। इसी से मुझे जाना होगा। मेरा अभाव जब तुम में खो जायगा तब तुम जान लोगी कि तुम्हीं थीं, मैं तो दिखावा था। और उस दिन कौन जाने तुम में होकर मुझे अलग होने की जरूरत ही न रहे। बस, शुभे! मैं जाता हूँ कि तुम अपने को पहिचानो और यशस्विनी बनो।'

इसके बाद राजा अन्तर्धान होगये। बहुत ढूँढा, बहुत खोजा। धरती नाप डाली गई, समुद्र मथ दिये गये, और आसमान भी झुका दिया गया। ज्ञात हुआ कि राजा कहीं नहीं हैं। यह ज्ञान सब में फैल गया। धीरे-धीरे करके राजा कभी थे, यह भी ज्ञानी भूलने लगे। यहाँ तक कि उनके आचार्य, दार्शनिकों और ऐतिहासिकों ने ग्रन्थों में उल्लेख किया कि अखिलेश कहीं कभी कोई था, प्रमाणाभाव से यह असिद्ध है। दूसरी ओर रानी यशस्विनी नहीं बनी। युग-युगान्त हो गये वह अपने राजा को और अब उसकी स्मृति को लेकर दासी ही बनी हुई है।

सचिव ने अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया। शासन का दायित्व उनका था। उन्होंने पहले कहा—'महारानी, राजा गये, क्या आज्ञा है?'

रानी ने कहा—'सचिव, मुझ से पूछने की मति तुम्हें किस ने दी? जिन्होंने दी होगी वह तो नहीं हैं। अब तुम्हें मेरा नहीं,

अपनी बुद्धि का भरोसा है। जाओ, अपनी बुद्धि से चलो और मुझे दुःख में छोड़ो।'

अमात्य ने कहा—'महारानी, महाराज कह गये थे।'

रानी बोली—'जानती हूँ, कह गये थे। पर अपने व्यर्थ कर्म के लिए मुझे न पूछो। मुझे दुःख का भोग है। शासन की ओर देखना होगा तो सचिव तुम सब को इसी क्षण बर्खास्त हो जाना होगा। तुममें महाराज की श्रद्धा नहीं, न तुममें उनकी महारानी की हित-भावना है। तुममें सत्ता का प्रेम है। उसमें मुझसे आज्ञा न लो। मेरा काम अभी शोक है। जाओ, अपने से तुम निबटो!'

जाते हुए सचिव को रोक कर रानी ने फिर कहा—'सचिव, तो तुम्हारे दार्शनिक और ऐतिहासिक खोज समाप्त कर चुके?'

'जी—'

'तो वह नहीं हैं? कहीं नहीं?'

'विद्वान् ऐसा ही विवेचन करते हैं।'

'पर तुम तो जानते हो वह थे?'

'जी, लेकिन विद्वानों से अधिक मैं कैसे जान सकता हूँ। जानने में अधिकार उन्हीं का है।'

'सचिव, तुम उनको बता नहीं सकते?'

'महारानी, वे विद्वान् हैं। यदि कहें कि मैं भ्रम में हूँ?'

'भ्रम! तुम्हारे हृदय में उनकी स्मृति है, उनके आदेश हैं। क्या वह अब सब तुम्हें भ्रम है?'

'महारानी, स्मृति धुँधली हो रही है और आदेश खो रहे हैं। भ्रम हो भी सकता है। तिस पर शोध विद्वानों की है। माननी ही होगी।'

'तो जाओ, मानो। मेरे हृदय में वह रहेंगे। वहाँ से वह न

जायेंगे। तुम अपना शासन देखो और आराम देखो। मुझे दुःख में रहकर उन्हें जीवित रखना है।'

'महारानी की इच्छा!' कह कर सचिव वहाँ से चले गये और शासन-कार्य में लग गये।

विज्ञप्ति हो गई कि महाराज जनार्दन की मूर्त्ति, चित्र, लेख, उल्लेख जहाँ भी हैं, समाप्त कर दिये जायँ। विद्वत्-परिषद् ने प्रमाणित किया है कि जनार्दन का अस्तित्व कहीं नहीं पाया गया। सत् असत् नहीं होता, इससे जो आज असत् है वह कभी सत्य न था। जो उस भ्रम को पोषण देंगे वह शासन की ओर से दंडनीय होंगे।

विज्ञप्ति के अनन्तर विद्वत्-परिषद् और शासन-परिषद् की सम्मिलित बैठक हुई। निर्णय हुआ कि लोकतन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ शासन-पद्धति है। दोनों परिषदों से दो-दो प्रतिनिधि चुने गये। सचिव समिति के प्रधान हुए। समिति शासन-समिति के नाम से सब सूत्रों की नियामक बनाई गई। सचिव को सत्ताधीश नाम दिया गया।

घोषित हुआ कि एकच्छत्र राजपद्धति समाप्त हो गई है। विकासशील सभ्यता के लिए वह कलंक थी। यहाँ सब बराबर हैं, और लोकमत पर जिसका आधार नहीं है वह तन्त्र निरंकुश है। सत्ताधीश और चार सदस्यों की शासन-समिति लोकमत की प्रतिनिधि है।

उस समय बहुतों के कण्ठ में प्रश्न उठा कि महारानी? प्रश्न की क्षीण आवाज़ भी कुछ सुन पड़ी। यह आवाज़ पास से और दूर से, यहाँ से और वहाँ से, जगह-जगह से उभरी। पर वह अस्फुट रही। शीघ्र ही उसके ऊपर होकर उत्तर फैल गया कि महारानी का

अस्तित्व पुरातन काल का अवशिष्ट है। शासन-समिति की विज्ञप्ति ने बताया कि रानी अपढ़ और अशिक्षित हैं। वह वहम में पली हैं और अब भी जनार्दन नाम के किसी अखिलेश के होने के भ्रम को छोड़ना नहीं चाहतीं। प्राण-विशारदों की रिपोर्ट है कि इस तरह अमर माने जाने पर भी उनके चिरायु होने की आशा नहीं है। शरीर-परीक्षकों का कहना है कि उनके मस्तिष्क में गहरी जड़ता है। विकार के चिह्न भी हैं। तो भी सत्ताधीश की ओर से उन्हें श्रम करने और जीवित रहने की प्रत्येक सुविधा है। सुरक्षा के लिए हर समय उन पर पहरा रखा जाता है। उनके सम्बन्ध में चिन्ता करने की किसी को आवश्यकता नहीं है। सदा से वह इसी हालत में रही हैं। मेहनत में उन्हें सुख है और सन्तोष उनका धन है। अधिक अधिकार के योग्य होने पर उन्हें वह भी दिये जायेंगे, पर अभी उसकी उन्हें आवश्यकता या शिकायत नहीं है।

रानी को सचमुच शिकायत नहीं है। मन में जनार्दन की रट रखती हैं, हाथ से नित्य नियमित काम करती हैं। कहती हैं कि 'तुम कह गये हो कि मैं यशस्विनी बनूँ। अब जहाँ हो वहीं तुम जानते हो कि तुम्हारे अभाव में मैं सचिवों और अंग-रक्षकों की बन्दिनी ही बन सकी हूँ। तेज था मुझ में तो तुम को लेकर ही था, तुम को लेकर ही वह प्रकट होगा। मेरा आधार अभिमान नहीं हो सकता। अभिमान का शासन जीतता नहीं, कुचलता है। मैं तो तुम्हारे प्रेम के सिवा कुछ नहीं जानती। इस प्रेम में से ही मेरे शासन का उदय हो, तो होगा। तुम्हारे अभाव में मैं बिखरी हूँ, तुम को लेकर ही संकल्प में बँधूँगी। ऐं जी, कहाँ हो तुम? सब कहते हैं तुम नहीं हो। फिर मेरे हृदय में वह क्या है जिसका ध्यान दीन होकर भी मुझे तुष्ट और बन्दी होकर भी मुझे स्वतन्त्र रखता है?'

इस भाँति शताब्दियाँ बीत गईं। लोकतन्त्र का लोहयन्त्र मज़बूत होता चला गया। संगठन-शक्ति, यन्त्र-शक्ति, प्रचार-शक्ति, विज्ञान-शक्ति के प्रकाश से जग मुखरित दीखने लगा।

उस समय भी रानी अपनी आस्था पर माथा टेके जनार्दन का नाम ले-लेकर कहती थी कि 'अरे ओ, अब तो सदियाँ हो गईं। देख लिया न तुमने कि मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकती हूँ ? क्या परीक्षा की अवधि अभी नहीं बीती ? देखते नहीं कि तुम्हारी रानी का क्या हाल हो रहा है ? मुझे क्या अमरता तुम ने इसीलिए दी थी कि मैं सब सहूँ और न मरूँ ?'

ऐसे ही एक समय घोर निशीथ की वेला में किसी ने उसके भीतर कहा—'रानी, मैं आ गया हूँ। तुम पर ताले हैं, पर सब टूटेंगे। आ गया हूँ, तब तुम तक पहुँचने में मुझे देर नहीं होगी।'

रानी ने जैसे स्वप्न में कहा—'कौन ? जनार्दन ?'

'हाँ, जनता में।'

'मेरे जनार्दन ?'

'हाँ, जनता का ही जनार्दन।'

जय-सन्धि

सामन्त यशोविजय अपने दृढ़ भुज-बल और दृढ़तर आत्म-विश्वास से काम लेकर मंडलेश्वर बन गए। किन्तु उन्हें प्रतीत हुआ कि उन पर इससे आगे भी दायित्व है। आस-पास के राज्यों में स्पर्धा है, विग्रह है, ईर्ष्या है। छुट-पुट युद्ध होते ही रहते हैं। अन्त-र्राजकीय कोई अनुशासन नहीं। सब मनमानी करते हैं और ज़ब-र्दस्त कमज़ोर पर चढ़ बैठता है।

यशोविजय को स्पष्ट कर्त्तव्य दीखने लगा कि ऐसी केन्द्रीय शक्ति को उदय में लाना और प्रतिष्ठित करना होगा जो इन सब राजाओं के दर्प को भङ्ग करे और उनमें एकसूत्रता लाये। केन्द्रीय सत्ता के स्थापन करने के काम के लिए अब आगे कौन आएगा ? सीधी नीति और धर्म की बातों से ये राजा लोग मानने वाले नहीं हैं। शस्त्र का तर्क ही वे जानते हैं। मैंने आरम्भ में कहा कि अपने महाराष्ट्र में हमें अखण्डता लानी है। अच्छा है कि हम सब छत्र-धारी आपस में मिलकर उपाय सोचें। पर क्या किसी ने सुना ? मैंने पुस्तक लिखी, प्रचार किया, पार्टी बनाई। अन्त तक उनकी कोशिश

रही कि न मुझे गिनें, न मेरी सुनें। आखिर शस्त्र की ही दलील उनके कानों उतरी और मुझे राजा बनना पड़ा। अब भी शक्ति की ही ये सुनेंगे और मुझे ही वह काम करना होगा।

यशोविजय की निष्पुत्रा पत्नी बसन्ततिलका ने कहा—'सुनो जी, तुम क्या जयवीर पर चढ़ाई करने की सोच रहे हो ? तुम्हें अब क्या कमी है ? फिर उत्पात किसलिए ?'

यशोविजय ने कहा—'बसन्त, यह न समझो कि मैं तुम्हें नहीं देखता हूँ। रूप के लिए मेरे पास आँखें हैं। पर इतिहास हमसे ही न बनेगा तो वह और किसको लेकर बनेगा ? बसन्त, पति और पिता बनकर रहने वाले तो असंख्य हैं, कोई इतिहास का बनकर रहने को भी तय्यार होगा ? वसन्त, ऐसे आदमी को युद्ध से विरत करोगी तो फिर उसके लिए रह क्या जायगा ? सँघर्ष में से विकास आता है। अपने इस महाराष्ट्र को एक संगठित पुँजीभूत शक्ति के रूप में विश्व के समक्ष हमें खड़ा करना है। उसमें अनेकों को और उनकी अनेकता को बीच में टूटकर गिरना हो तो क्या तुम बीच में आकर मुझे उन पर दया दिलाओगी ? यशोविजय को तुम ग़लत समझी हो वसन्त, अगर तुम ऐसा समझती हो।'

बसन्ततिलका ने कहा—'लेकिन जयवीर और यशस्तिलका की सहायता से ही आज तुम राजा हो, यह क्या तुम्हें याद नहीं है ?'

यशोविजय—'भाग्य में सब काम आते हैं बसन्त, लेकिन भाग्य पर किसी स्मृति का बोझ नहीं होता है। भाग्य असम्पृक्त है और वह अमोघ भी है। मैं जयवीर के साथ अपने नाते की ओर देखूँ, या यह देखूँ कि वह हमारे राष्ट्र की एकता में बाधा है ? वही एक व्यक्ति है जो महाराष्ट्र-सङ्घ में नहीं आना चाहता और जिसके कारण कुछ और लोग भी छिटके हुए हैं।'

बसन्त बोली—'लेकिन बहन यशस्तिलका ?'

यशोविजय सुनकर मुस्कराये। कहा—'उसकी अवस्था बीती नहीं है। फिर विवाह हो सकता है।'

बसन्त—(चौंककर) 'तुम उसे विधवा करोगे ?'

यशोविजय—(भ्रूकुटी वक्र करके) 'मैं कुछ नहीं करूँगा, पर जो होगा मैं वह क्या जानता हूँ ? तुम स्त्रियों की विवाह से आगे गति नहीं। यशस्तिलका, तुम जानती हो कि वह क्या चाहती है ? पति को कोई स्त्री नहीं चाहती।'

बसन्त—(व्यंग से) 'न स्त्री को कोई पुरुष चाहता है, क्यों ?'

यशोविजय—'पुरुष का यह काम नहीं है। स्त्री पीछे चली आने को है। चाह का खर्च स्त्री पर कापुरुष ही करते हैं।'

बसन्त—'मैं समझी, तुम यशस्तिलका को विधवा बनाओगे। कहो, अपना बदला लोगे, यही न ?'

यशोविजय—'हाँ, शायद। लेकिन उसके प्रेम के कारण यश-स्तिलका ने जयवीर को नहीं वरा है, मेरे प्रेम के कारण उसने ऐसा किया है। यह मेरा कर्त्तव्य है कि मैं उसके प्रेम को मुक्ति दूँ।'

बसन्त—'और ऐसे मुझको भी मुक्ति दो !—क्यों ?'

यशोविजय—'वसन्त, तुम भूलती हो। मैं इन चीजों के लिए नहीं बना हूँ। यशस्तिलका मुझे चाह सकी, पर स्वीकार नहीं कर सकी। वह समाज जहाँ व्यक्ति का कुल इतना प्रधान है कि प्रेम को व्यर्थ करता है, वह समाज जीर्ण है। यशस्तिलका के विवाह के क्षण से मैंने यह देख लिया। तब से तय किया कि समाज की ऊँच-नीचता को एक बार चीरकर मुझे राजा बनना होगा। जाति और कुल की बेड़ियों की जकड़ को खण्ड-खण्ड कर डालना होगा। उसी क्षण तय किया कि यशस्तिलका की बहन—तुमसे मुझे

विवाह करना होगा ! चौंको नहीं; यह नहीं कि तुम अपूर्व सुन्दरी नहीं हो, पर विवाह से मैंने यह बतलाना चाहा कि समाज की मान-मर्यादाएँ झूठी हैं, कृत्रिम हैं। मैं अकेला हूँ। विवाह न मुझे यशस्तिलका से चाहिए था, न तुम्हारे विवाह का मेरे निकट उपयोग है। पर समाज की विषमताओं को बीच में से टूटना होगा। इसने क्या यह जंजाल फैला रखा है ? इसी को लेकर बड़े उठते और छोटे गिरते जा रहे हैं। वे ऐश करते हैं, ये तरसते हैं। मेरे पास जीने के लिए काफी काम है। समाज के स्वरों को बीच से चीरते हुए मुझे वहाँ उठते जाना है जहाँ कोई स्तर शेष नहीं है। तब लोग देखेंगे कि जिसको अनादि और अटूट माना था वह वर्ग-भेद बिखरा पड़ा है। वह सब प्रपञ्च था और मनुष्य उसके पार है। वसन्त, तुम चाहती हो कि मैं जयवीर का उपकार मानूँ और अपने काम में यहीं रुक जाऊँ ? चाहती हो कि मैं मैं न रहूँ ?'

वसन्त—'नहीं, जयवीर पर चढ़ाई न करो !'

यशोविजय—'कौन जयवीर ? जयवीर को मैं क्या जानता हूँ ? मैं उस आदमी को बर्दाश्त नहीं कर सकता जो इस महाद्वीप की एकता में विच्छेद डालता है। उसका नाम जयवीर है तो इसमें मेरा कोई दोष नहीं। तुम अपनी बहन से कहो कि वह तुम्हारे बहनोई को साथ लेकर सदा के लिए तुम्हारे साथ आ रहे। तब देखोगी कि उनके सत्कार में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होती है। पर राजकारण बहन-बहनोई को नहीं जानता।'

वसन्ततिलका ने कहा—'पर जयवीर कम शक्तिमान् तो नहीं है। युद्ध में भीषण रक्त-पात होगा। जय क्या निश्चित है ? फिर जयवीर को मैं नहीं खो सकती तो तुम्हें ही खोने को मैं कब तैयार हूँ ?'

यशोविजय सुनकर हँसे और बोले—'मैं तुम्हारे किस काम का सिद्ध हुआ हूँ कि मुझे रखने का तुम्हें लोभ होना चाहिए ?'

वसन्ततिलका ने ज़ोर से रोककर कहा—'बस, चुप करो।'

यशोविजय ने गम्भीर होकर कहा—'लेकिन मैं नहीं खोया जाऊँगा, बसन्त ! जो काम मुझमें रखकर यहाँ मुझे भेजा गया है, वह हो न जायगा तब तक भगवान् मुझे भला कैसे उठा सकेंगे !'

बसन्त—'तो तुम चढ़ाई ही करोगे ? और उपाय नहीं है ?'

यशोविजय—'नहीं, मैंने दूत भेजे हैं। चाहो तो उसी हैसियत से तुम हो आओ। मैं युद्ध नहीं चाहता, बचना चाहता हूँ। पर यह जयवीर के हाथ है। महाराष्ट्र-संघ में अपना उचित प्रतिनिधित्व लेकर जयवीर सन्तुष्ट नहीं हो सके तो फिर मेरा अपराध क्या ? हमारी यह भूमि कब तक फूट का आँगन बनी रहेगी ! आख़िर कभी तो विधान आयगा ! विधान का मसविदा जयवीर को भेज दिया गया है। तीस में से इक्कीस राजाओं ने उसको मान लिया है। शेष बस यह है कि सब मिल-बैठकर अपना अधिनायक चुन लें। यह किया-कराया काम इसलिए चौपट होने दिया जाय कि जयवीर राजी नहीं है और वह नातेदार है ? जाओ, जाकर उसे कहो कि इक्कीस राज्यों की ओर से यशोविजय इस दिशा में कदम बढ़ाकर अब पीछे हटने वाला नहीं है। कहना, पन्द्रह रोज़ का अवकाश है। मैं व्यक्ति नहीं हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ। मैं प्रतिनिधि हूँ और विधानाधीन हूँ। समय रहते सब ही हो जाना चाहिए। नहीं तो कहना कि भाग्य दुर्निवार ही है।'

बसन्त—'हाँ, मैं जयवीर के पास जाऊँगी। लेकिन—'

यशोविजय—'अवकाश के पन्द्रह दिन से अधिक नहीं हैं।'

बसन्त—'लेकिन मैं वापिस न आऊँ तो ?'

यशोविजय—(भृकुटी समेट कर) 'अवकाश पन्द्रह दिन का है। आगे तुम जानो।'

बसन्त—'तुम्हें निश्चय है कि ईश्वर तुम्हारी ओर है ?'

यशोविजय—'ईश्वर किसी की ओर नहीं होता, बसन्त। निस्वार्थ की ओर होता है। मैं निश्शंक हूँ।'

बसन्त—'तुम राज्य बना रहे हो, राज्य को अब साम्राज्य बना रहे हो। पर किसके लिए ? तुम्हारे तो कोई पुत्र भी नहीं है !'

यशोविजय—'ठीक कहती हो, बसन्त ! राज्य या साम्राज्य बना रहा होता तो कोई उसके लिए होना चाहिए था। पर कोई नहीं है। तुम जानती हो कि तुम तक नहीं हो। तब यही न है कि मुझे न राज्य बनाना है, न साम्राज्य बनाना है। मुझे यहाँ आकर भगवदादेश पालना है।'

आँखों में आँसू लाकर बसन्ततिलका ने कहा—'तुम्हें किसी का भय नहीं है, स्वामी ?'

यशोविजय ने आश्चर्य से पूछा—'भय ! भय किसका ?'

बसन्त बोली—'पराजय का, मृत्यु का, भाग्य का, ईश्वर का ?—किसी का भय नहीं ?'

यशोविजय ने हँसकर कहा—'जाओ बसन्त, जयवीर के पास जाओ। कहना मुझे भय नहीं है। इससे लज्जा और लिहाज़ भी नहीं है।'

बसन्त ने कहा—'एक बात मेरी सुनोगे ? तुम निस्पृह हो, इससे कह रही हूँ। जयवीर में उतनी क्षमता नहीं है। तुम उसकी आधीनता स्वीकार कर लो तो क्या हर्ज है ? तुम समर्थ हो !'

यशोविजय—'कोई हानि नहीं, बसन्त। पर जयवीर में इतना भी तो साहस नहीं कि यही बात खुलकर कह सके। यह तो मैं

सोचता ही था कि उसको केन्द्र बना कर सबको एक विधान की अधीनता में गूँथ लूँगा ; पर अधिनायक केवल नाम का हो तो उससे कूट-चक्र की सृष्टि होगी। तब वहाँ सड़ाँध हो जायगी। मेरी यही तो कठिनाई है, बसन्त ! जयवीर न मुझे मानेगा, न अपनी आधीनता में लेगा। मैं सत्ता नहीं चाहता, पर एकता तो चाहता हूँ। मुझे कोई दूसरा आदमी नहीं दीखता। सब अपने-अपने चक्र में, अपने-अपने राज-हित की भाषा में सोचते हैं। महाराष्ट्र उनके बल पर कैसे बनेगा, तुम्हीं सोचो। मुझे क्षमा करना ! तुम्हारी कविताओं की स्तुति मैंने मुँह से नहीं, हृदय से की थी। हत्या नहीं, मुझे प्रेम ही प्रिय है। पर प्रेम तो दुःख है। दुःख में से सृष्टि होती है, वसन्त। एक समूचे महाराष्ट्र को जन्म लेना है। उसकी पीड़ा कम नहीं होगी। पर उसको सह जाना होगा। जयवीर और मैं काफ़ी साथ रहे हैं। महाराष्ट्र की एकता में निष्ठा उसे दुर्लभ है। मैं बताओ तब क्या कहूँ ? अधिक नहीं इतना तो वह करे कि नव-सर्जन के इस संक्रान्ति-काल में वह चुप ही बैठे। मेरे व्रत में बाधा तो न बने। बसन्त, तुम मानती हो कि राजा होकर यशो-विजय कुछ और हो रहा है ? इन्कार न करो। तुम्हारे चेहरे पर यह लिखा है। पर यह बात नहीं है। मैं वही हूँ, जिसने तुम्हारा चित्त जीता और जिसको तुमने अपने हृदय का समस्त काव्य दिया ; लेकिन बसन्त, समय विषम है और मैं भी स्वाधीन नहीं हूँ। जाने भाग्य की किस शृङ्खला से बँधा हुआ हूँ। आवर्तों में से मेरी गति है। और जीतकर भी किसी का हृदय लेने की मुझे स्वतन्त्रता नहीं है। ऐसे व्यक्ति को दोष दे सकती हो, लेकिन क्या उस पर दया भी नहीं कर सकती हो, बसन्त ? यशस्तिलका—मैंने झूठ नहीं कहा, बसन्त, कि जयवीर के न रहने पर उसे लौकिक

ज्ञाति कितनी भी हो, अभ्यंतर में दोनों अपरिचित हैं, लेकिन तुम्हारे द्वेष की भी वह बात नहीं है।'

बसन्त—'सच बताओ, क्या यह सच है कि यशस्तिलका अपने पति को युद्ध के लिए उभार रही है ?'

यशोविजय—'सुनता तो हूँ, पर जासूस मन तक तो नहीं पहुँच सकते।'

बसन्त—'तब क्या बहन यही न समझेगी कि मैं तुम्हारे पक्ष में जयवीर को झुकाने आई हूँ ?'

यशोविजय—'मेरे पक्ष में ? भविष्य के पक्ष में कहो, बसन्त, तो इसमें अन्यथा क्या है ?'

बसन्त—'बहन क्या चाहती है ? हममें से किसी का घर बर्बाद देखना चाहती है ?'

यशोविजय—(गम्भीर भाव से) 'हाँ, शायद अपना ही घर बर्बाद देखना चाहती है।'

* * *

बसन्ततिलका अपने पति की गम्भीरता देखकर घबरा गई। उसने निश्चय किया कि युद्ध को टालना होगा। वह जयवीर के पास गई। कहा—'मैं सन्धि का प्रस्ताव लेकर आई हूँ। तुम दोनों मिल जाओ तो क्या अजेय न हो जाओ ? आखिर रक्त-पात क्यों ?'

जयवीर—'बसन्त, यशोविजय अपने को बहुत गिनता है। मैं क्या कर सकता हूँ ? कायर तो नहीं बन सकता !'

बसन्त—'पर मित्र तो बन सकते हो। मैं उसकी भीख माँगने आई हूँ।'

जयवीर—'क्या वह मित्र चाहता है ? वह तो मातहत चाहता

है। नया राजा बना है न ? प्यादे से फ़रदी हुआ है तो टेढ़ा क्यों नहीं चलेगा ?'

बसन्त—'जयवीर, यह कहना तुम्हारे योग्य नहीं है। अपने बल से उन्होंने राज बनाया है। मिले से बनाया राज बढ़कर है। अपने मन में से उनके लिए दुर्भाव निकाल दो, जयवीर ! मैं कहती हूँ, तुम लोग मित्र हो जाओ।'

जयवीर ने हँसकर कहा—'उसके दूत यहाँ आये बैठे हैं। सिर पर तलवार लटकाकर यशोविजय सन्धि के लिए कहलाता है। यह क्या मित्रता की माँग है ? यह तो हुक्म है, अधीनों को दिया जाता है। मैं तो चाहता था कि हममें मेल रहे। क्या मैंने उसे सहायता नहीं दी ? लेकिन राज पाकर उसे मद हो गया है।'

बसन्त ने आग्रह से कहा—'मद नहीं, जयवीर ! उनको ग़लत न समझो। उन्हें तुमसे द्वेष नहीं। उन्होंने मुझे इसीलिए भेजा है। एक बात तुम मान लो कि तुम महाराष्ट्र-संघ में हो जाओगे। आगे उन्हें कुछ नहीं चाहिए ! संघ में अपना प्रतिनिधित्व तुम बढ़वा सकते हो।'

जयवीर उत्तर में कुछ कहे कि यशस्तिलका वहाँ आ पहुँची। आते ही बोली—'महाराष्ट्र-संघ ! वह यशोविजय का ढकोसला है। यह उसमें शामिल होंगे तो मैं इनके साथ न रहूँगी। वह उद्दण्ड अपने चक्र में सबको फाँसना चाहता है।'

बसन्त—'बहन, क्या कर रही हो ?'

जयवीर—'संघ का विचार बुरा नहीं है। पर यशोविजय पर विश्वास के लिए प्रमाण चाहिए।'

बसन्ततिलका ने कहा—'प्रमाण में आप क्या चाहते हैं ?'

जयवीर ने कहा—'यह राजनीति का प्रश्न है, बसन्त ! इस बारे

में मैं तुमसे किस अधिकार से बात करूँ ? क्या यशोविजय मैं कहूँ वैसे चलेगा ?'

वसन्त—'वह संघ चाहते हैं, संघ को शक्तिमान चाहते हैं। इसके अतिरिक्त वह कुछ भी मान सकते हैं। मैं मना सकती हूँ। मुझे बताओ—कैसे तुम्हें विश्वास हो सकता है और तुम संघ में आ सकते हो ?'

जयवीर—'तो सुनो, वसन्त। संघ में यशोविजय न जाय, न अधिनायक पद के लिए खड़ा हो।'

इस समय यशस्तिलका, जो चुप थी, हठात् बोल उठी—'यह कैसे हो सकता है ? यशोविजय के बिना संघ व्यर्थ है और अधिनायक बने बिना यशोविजय व्यर्थ है। क्यों जी, वह तुम्हारी शर्तें मान भी जायँ तो तुम भी मान जाओगे ?'

जयवीर ने अपनी पत्नी की ओर देखकर कहा—'इसमें क्या हर्ज है ? यशोविजय अलग रहे तो संघ का अधिनायक मैं हो सकता हूँ।'

यशस्तिलका—'तुम ? तुम अधिनायक ?'

कहकर वह एकदम हँस पड़ी। बोली—'वह होने देगा ?'

वसन्त—'मैं वचन देती हूँ, बहन, कि संघ का बहुमत यह चाहेगा तो वह बीच में नहीं आएँगे।'

यशस्तिलका फिर जोर से हँस पड़ी। बोली—'संघ का बहुमत ! वसन्त, तू विनोद तो नहीं कर रही है ? न कहीं संघ है, न बहुमत है। एक तुम्हारे स्वामी हैं और उनकी यह माया है। उसके लिए तुम यह जाल डालने क्यों आई हो ? तुम्हारी बहन अन्धी नहीं है।'

वसन्ततिलका बहुत घबराई हुई बोली—'यह क्या कहती हो, बहन ?'

यश गम्भीर भाव से बोली—'तू जा, बसन्त। कह देना कि सब बात वृथा है। सन्धि के लिए कोई दूत न भेजें। नातेदारों से सन्धि नहीं हुआ करती। वह युद्ध चाहते हैं। कहना, जो वह चाहते हैं होगा।'

बसन्त ने कातर होकर कहा—'पर वह युद्ध नहीं चाहते हैं, बहन! तुम क्या उन्हें भूल गई हो? फिर युद्ध उनके सिर क्यों डाल रही हो? मुझे विश्वास है कि संघ उनके बिना चल सकेगा तो मैं उन्हें राज़ी कर लूँगी कि वह अलग रहें। फिर जयवीर अधिनायक बनें, इसमें क्या बहन, तुम्हें खुशी नहीं होगी?'

यश बोली—'व्यर्थ बात न कर, बसन्त! तू जानती है कि उनके बिना कुछ न होगा। इससे वह अलग भी न रहेंगे। खैर, इन बातों से होता क्या है? उनसे कह देना कि यश वही है जिसके रक्त में राजत्व है। कल का जो बना हुआ राजा है उसकी ओर का कोई सन्धि-प्रस्ताव वह नहीं सुन सकती।'

जयवीर ने कहा—'यश, यशोविजय बीच से हट जायँ तो संघ-स्थापना का विचार अच्छा ही है। (बसन्त से) लिखित वचन तुम उससे दिला सकोगी?'

बसन्त—'हाँ, शायद दिला सकूँगी।'

जयवीर—(यश से) 'तो इसमें क्या हर्ज है, यश! लड़ाई में बर्बादी है और अनिश्चित विजय है।'

यश ज़ोर से बोली—'क्यों नहीं कहते कि तुम कायर हो और युद्ध से बचते हो?'

जयवीर—'हाँ, युद्ध से बचता हूँ। कारण, एक तो उससे बचना ही चाहिए, दूसरे तुम-सी सुन्दरी का सौभाग्य अखण्ड रहना चाहिए।

यश इस पर चिढ़कर बोली—'मेरा सौभाग्य तो तभी गया जब कायरता की बात तुम्हारे मन में आई। मेरा सौन्दर्य यश है। कापुरुषता दिखाकर मेरा अपयश कराना चाहते हो?—(बसन्त से) सुनो जी, कह दो कि अगर उसकी बात में सच हो तो आगे कोई दूत न आये। और अब तुम्हारे बहनोई को वह युद्ध-क्षेत्र में ही आकर मिलें।'

बसन्त स्तम्भित होकर बोली—'बहन!'

जयवीर भी आगे कुछ न कह सका।

यश ने कहा—'बसन्त, अब इन्हें छोड़ दो। यहाँ आओ।'

अलग जाकर दोनों बहनों में बात हुई। बसन्त बहन के लिए यशोविजय का एक मोहरबन्द पत्र लाई थी। पत्र पढ़कर यश पीली पड़ आई। बोली—'नहीं, वह यहाँ न आयँ। यहाँ बहुत ख़तरा है। उन्हें यह क्या सूझा जो यहाँ आना चाहते हैं?'

बसन्त—'उन्होंने कहा था कि यदि कुछ और सम्भव न हो तो मैं यह पत्र तुम्हें दे दूँ। बहन! हम दोनों अनिष्ट को टाल नहीं सकतीं?'

यश कुछ देर तक निरुत्तर खड़ी रही। अनन्तर खोई-सी बोली—'वह आयँगे? नहीं, वह नहीं आयँगे।'

बसन्त—'उन्हें एक भी अवसर न दोगी, बहन? वह तुम्हें अब भी चाहते हैं।'

यश—'मुझे चाहते हैं! पागल तो नहीं हुई हो?'

बसन्त—'और बहन, मुझे नहीं चाहते!'

झट से यश बोली—'बसन्त, तुम्हारा दिमाग ख़राब है।'

बसन्त—'तो जाने दो, बहन! यह कहो, क्या किसी तरह वह तुम्हें नहीं मिल सकेंगे?'

'नहीं बहन, नहीं। यहाँ उनकी खैर नहीं है। कह देना कि ऐसा न सोचें और बहन, हम लोग कुछ नहीं कर सकतीं। अपने विवाह तक पर तो हमारा वश नहीं है। आगे हम क्या कर सकती हैं ? युद्ध होगा, तो हो। जाओ बहन, कह देना कि किसी को किसी पर दया करने की जरूरत नहीं है।'

बसन्त सब तरह की कोशिश करके हार गई। और लौटकर सब हाल पति को कह सुनाया।

सुनकर यशोविजय कुछ विचारते रह गए। फिर कहा—'बसन्त, यश पागल हो गई है। मैं उससे मिलने जाऊँगा।'

बसन्त—'पर उसने मना किया है। और तुम्हारा लौटकर आना कठिन है।'

यशोविजय हँस पड़े। बोले—'कठिन मैं नहीं जानता, बसन्त ! यह जानता हूँ कि समय से पहले मेरा मरना असम्भव है और उधर यश एकदम बौरा गई है। तुम्हीं कहो, मैं रुक सकता हूँ ?'

और यशोविजय नहीं रुके।

* * *

यशस्तिलका बहुत घबरा गई जब परिचारिका के हाथ उसने पत्र पाया कि यशोविजय से आधी रात के समय वह स्वयं बाहर कुंज में आकर न मिली तो वह शयन-कक्ष में जायँगे।

यह सूचना पाकर वह किसी तरह कुछ भी अपने लिए निश्चय न कर सकी। जाने का समय हुआ कि कुंज में भी न जा सकी। वह जाग रही थी और जाना चाहती थी पर पाँव जैसे बँध गए हों। वह उस समय पलंग पर उठकर बैठी थी, पर उतर कर चलना

उसके लिए सम्भव नहीं हुआ। ऐसे बैठी रहकर अन्त में सब बत्तियाँ बुझाकर वह फिर लेट गई।

यशोविजय ठीक समय पर कक्ष में आ उपस्थित हुए। बत्ती बढ़ाकर देखा कि यश पलंग पर आँखें मूँदे लेटी है। सीधे सिरहाने बैठकर यशोविजय ने हाथ पकड़कर कहा—'यश, उठो; तुम सो नहीं रही हो।'

वह घबराई-सी उठी। चौंककर बोली—'कौन ?'

यशोविजय ने हँसकर कहा—'मैं हूँ यशोविजय। उधर का दरवाज़ा बन्द तो है ? इधर का मैं बन्द कर चुका हूँ !'

जैसे हैरत में हो, यश ने कहा—'तुम ऐसे समय क्या चाहते हो ?'

यशोविजय—'मैं बात करना चाहता हूँ यश, और यह जानना चाहता हूँ कि हमारी बात कोई सुनेगा तो नहीं ?'

यश—'तुम कैसे आये ? क्यों आये ? किसकी इजाजत से आये ?'

यशोविजय ने हँसकर कहा—'वह सब देखा जायगा, यश ! मुझे जल्दी जाना है। मेरी बात सुनो। यह बताओ कि तुम मुझ से अभी तक नाराज़ हो ?'

कहते-कहते यशोविजय ने हाथ से सम्हाल कर उसे तकियों के सहारे बैठा दिया।

यश ने कहा—'मुझ से तुम्हें क्या काम ? मुझे तुम से कोई काम नहीं।'

यशोविजय ने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—'नहीं यश, यह सच बात नहीं है। दोनों को दोनों से काम है। सब को सब से काम हुआ करता है। तुम मुझ से क्या चाहती हो ? तुम जानती हो कि तुम्हारी वजह से मैं राजा बना। मैं तो अपने ढंग का कवि

था। तुमने कहा कि राजा बनूँगा तब तुम बोलोगी। अब देखो, राजा हूँ। अब बोलने से इन्कार नहीं कर सकतीं।'

'मुझे इससे क्या ? राजा से महाराजा बनो तो इसमें मुझसे क्या कहने आते हो ?'—यश ने कहा।

यशोविजय और पास सरक आये। यश की ठोड़ी में हाथ डाल कर कहा—'सुनो यश, जयवीर से वैर न करो। इतना नहीं कर सकोगी, रानी ?'

हाथ को झटके से अलग करके यश बोली—'क्या बकते हो ?'

यशोविजय ने कहा—'मेरे दोष के लिए जयवीर को दण्ड न दो रानी। वह तुम्हारे बच्चों के पिता हैं।'

यश बेहद क्रुद्ध होकर बोली—'हट जाओ मेरी आँखों के सामने से। तुम हो कौन, जो यों सताने आये हो ?'

यह उत्तर पाकर यशोविजय उस कमरे में ही कदम रखकर घूमने लगे। यश सामने बैठी निर्निमेष देखती रही। धीरे-धीरे उसकी आँखें भर आईं और उनमें से आँसू बह चले।

यशोविजय घूम रहे थे। वह अपने विचार में लीन थे। सहसा अपने ही हाथ झटक कर बोले—'मुझे समय कम है।'

कहने के साथ ठिठक कर वह यश की ओर मुड़ने को हुए। उस समय तक काफी आँसू यश की आँखों से व्यर्थ भाव से बह कर सूख गए थे; पर आँखें स्थिर थीं और आँसुओं की रेखा साफ चीन्ह पड़ती थी। यशोविजय ने एकाएक आगे बढ़कर उसे गोद में लेते हुए कहा—'यह क्या ! तुम रो रही थीं ?—भला क्यों ?'

यश गोद में गिरकर फूट-फूटकर और भी रोने लगी। बोली नहीं।

यह अप्रत्याशित था। यशोविजय ने कहा—'क्यों-क्यों, क्या बात है ?'

यश रोती ही रही। कुछ नहीं बोली। और थोड़ी देर बाद वह चुप होकर उठी तो बोली—'तुम जाओ यशोविजय, यहाँ न रहो।'

यशोविजय ने कहा—'लेकिन मुझे बताओ, मैं क्या करूँ ? लड़ना नहीं चाहता हूँ। राजा होना, अधिनायक होना, कुछ नहीं चाहता हूँ। पर राष्ट्र-संघ का स्वप्न मेरा पुराना है। तुम तो सब जानती हो। उसी के बल पर कवि था तो तब रहता था, राजा हूँ तो अब रहता हूँ। वह गया तो मैं किसके लिए रह जाऊँगा ? तुम उस वक्त मेरी हँसी उड़ाती थीं और मुझे पागल कहती थीं। अब भी हँसी उड़ा सकती हो और पागल कह सकती हो। लेकिन मैं क्या तब तुमसे नाराज़ हो सका था कि अब नाराज़ होऊँ ? यश, तुम्हें मुझ में विश्वास नहीं ?'

यश ज़ोर से बोली—'क्या विश्वास नहीं ? चुप रहो।'

यशोविजय कहता रहा—'हम आपस में लड़ते-झगड़ते रहे हैं। एक देश दूसरे का दुश्मन है। छीना-झपटी और मार-काट मचती रही है। इसका अन्त कब होगा ? यह शर्म की बात है, यश, कि हम लड़ें और अपनी-अपनी सोचें। मैं आगे बढ़कर जान देने को तैयार हूँ, अगर उससे सब मिल सकें। संघ बनकर मुझे एक तरफ कर सकता है, किन्तु यह लज्जा-जनक दृश्य तो हमारे महाराष्ट्र की भूमि पर से मिट जाना चाहिए। यहाँ अनेक राज्य हैं और सब एक दूसरे की घात में हैं। छल और कपट से राजनीति छा गई है। कूट-चक्र का जाल फैला है, आदमी सरल नहीं रह गया है, कुटिलता सीखता जाता है। यश, मैं वही स्थिति लाना चाहता हूँ जहाँ दबाव न होगा और व्यक्ति प्रकृत भाव से रहेंगे। प्रकृत

भाव मित्रभाव है। वह आपाधापी नहीं है। वह सहयोग और सहकार है। यश, तुम इस काम में मेरी सहायता नहीं कर सकती हो ?'

यश ने मुसकरा कर कहा—'यशोविजय, तुम वही पहले-से पागल हो। मैं समझती थी, राजा हो गए हो ; पर कुछ नहीं, तुम अब भी बोलने लायक नहीं हो।'

यशोविजय ने यश के इस निर्बन्ध भाव पर प्रसन्न होकर कहा—'हाँ, यश ! मैं वही हूँ। पागल हूँ ; लेकिन पागल जानकर ही तुम मेरी मदद करती रहो। अब क्या उससे विमुख होगी ?'

उस समय यशस्तिलका ने गम्भीर भाव से कहा—'सुनो, यशोविजय ! तुम पागल होकर समझदारी की बात न करो। पागल को कोई पहचान नहीं होती। उसके लिए जैसा युद्ध वैसी शान्ति। जैसा एक, वैसा दूसरा।'

कहते-कहते वह रुकी और उसकी आँखें भर आईं। फिर आगे कह निकली—'जैसी यश, वैसी वसन्त। जैसा अपना, वैसा पराया। फिर पागल होकर यह क्या मोह में पड़े हो कि युद्ध रोकने को मुझसे मिलने आये हो ? पागल तो कभी नहीं घबराता !'

यशोविजय ने कहा—'घबराता नहीं हूँ, यश ! पर यह युद्ध अनिवार्य नहीं है, प्रकृत नहीं है। जयवीर शत्रु नहीं है। यश, तुम जानती हो, वह लड़ाई सच्ची होगी और तुम्हारे मन की गाँठ को और कस देगी। यश, गाँठ को खोल क्यों नहीं देतीं ? उसे कसती हीं क्यों जाती हो ?'

यश ने स्पष्ट भाव से कहा—'यशोविजय, अपनी मर्यादा का तुम्हें ध्यान रखना चाहिए। युद्ध नहीं टलेगा। बाधाएँ कम करके

फल का मूल्य घटाओगे। यह नहीं होगा, यशोविजय! युद्ध में न तुम्हें गुजरना होगा!'

यशोविजय ने भी असंयत होकर कहा—'और जयवीर को तुम्हारे लिए बलि होना होगा! नहीं, यह नहीं होगा। यह बराबर उन्हीं का शयन-गृह है न?'

कहकर यशोविजय उस ओर का द्वार खोलने को आगे बढ़े।

यश भयभीत हो पड़ी। बोली—'हें-हें, उधर कहाँ जाते हो?'

द्वार पर पहुँचकर खोलने की चेष्टा करते हुए यशोविजय ने कहा—'जयवीर को जगाकर कहूँगा, यह मैं हूँ। तुम्हारे शयन-कक्ष से आ रहा हूँ।'

यश ने कुछ नहीं सुना। भागती हुई आकर उसने यशोविजय की बाँह पकड़ ली। कहा—'अपने पर दया करो, यशोविजय। क्या तुम्हें पता है कि तुम कहाँ हो? अब भी तुम मृत्यु के मुँह में हो। यश लो, मेरी बात सुनो।'

यशोविजय को पकड़कर वह लौटा लाई, पर यशोविजय की मुद्रा अब भी कठिन थी। उसने कहा—'हिंसा से मुझे डर नहीं है। लेकिन जयवीर का बलिदान तुम न दे पाओगी। मेरे हाथों तुम यह नहीं करा सकतीं। मैं जान चुका हूँ कि वह संघ के विमुख नहीं, तुम्हीं उसे भड़का रही हो।'

यश क्रोध से बोली—'हमारे बीच में पड़ने वाले तुम कौन हो?'

उसी भाव से यशोविजय ने कहा—'तुमको बलि चाहिए तो मैं हूँ। मैं अभी जाकर जयवीर के हाथों अपने को पकड़वा दूँगा। तब तुम्हें शान्ति होगी!'

यश—'मुझे शान्ति? तुम्हें हो क्या गया है?'

यशोविजय—'यश, पति निकृष्ट नहीं होता, वह देवता होता है।'

उसी से स्त्री का सौभाग्य है। जयवीर क्या इसलिए अविचारणीय है कि वह पूरी तरह तुम पर विश्वास रखता है? इसलिए उसे मुझसे टक्कर लेकर खण्ड-खण्ड होना होगा कि—? तुम चाहती क्या हो?'

यश—'हाँ, तुम्हारे लिए यह सब मुझे करना होगा।'

यशोविजय—'यश, चुप रहो—मेरे लिए करना होगा? क्या मैं राक्षस हूँ?'

यशस्तिलका अत्यन्त गम्भीर हो गई। बोली—'प्रिय, मैं नहीं जानती तुम क्या हो? पर मेरा सब-कुछ तुम्हारे रास्ते में चूर्ण-चूर्ण नहीं हो लेगा तब तक तुम्हारा काँटा नहीं टलेगा और मेरी मुक्ति नहीं होगी।'

यशोविजय ने आवेग से कहा—'यश—'

यशस्तिलका भारी वाणी में बोली—'मेरे प्रिय, तुम जानते हो कि जगत् में एक मेरे ही पक्ष में तुम कमज़ोर हो। मैं इसे नहीं सहूँगी। मैं तुम्हें रंच-मात्र भी कमज़ोर नहीं होने दूँगी। मैं न होती तो क्या तुम जयवीर के विचार पर तनिक भी अटकते? मैं हूँ तो भी तुम नहीं अटकने पाओगे। यशोविजय, मेरे राजा, तुम राजा बने हो, यह काफ़ी नहीं है। तुम्हें सम्राट् बनना होगा। रास्ते में तुम्हारी यश विधवा बने, या कि मरे, तुम्हें रुकना नहीं होगा। और यह भी समझ रखो कि उस राह में यश जितनी काम आयगी, उतनी यथार्थ में वह सिद्ध होगी। इसको भावुकता समझ कर तुम उड़ा देना चाहते हो तो तुम जानो, पर मेरा दूसरा अभीष्ट नहीं है।'

यशोविजय यह सुनकर अब सन्न रह गए। कहा—'क्या इसी लिए कविता से हटकर स्वप्न की कर्म में पूर्ति करने के मार्ग पर

चला था ? क्या यही तुम्हारी प्रेरणा थी ? क्या इसी के लिए तुमने मुझे ठेलकर राजा बनने को मजबूर किया था ?'

यश—'हाँ, इसीलिए कि विजयी बनो। विवाह करके तुम साधारण हो जाते; पर तुम्हें असाधारणता पर चलना होगा। मुझे दिया वह प्रण भूल गए कि महाराष्ट्र की अखण्डता तुम्हारा व्रत होगी और बीच में कोई वस्तु तुम्हें न रोक पायेगी। लेकिन यह क्या तुम मुझी पर रुकते हो ?'

यशोविजय ने भर्त्सना के स्वर में कहा—'मायाविनी, अगर मैं अभी सब छोड़कर चला जाऊँ तो—?'

यशस्तिलका किंचित् कटाक्ष से मुस्कराकर बोली—'यही तो कहती हूँ, तुम नहीं जा सकोगे। जिस स्वप्न पर तुमने अब तक तमाम जीवन व्यय किया है, वह तुम्हें अपनी ओर खींचे बिना न रहेगा। तुम चाहो तो भी दया के वश में न होगे। छिः, दया तुम्हें तोड़ेगी ?'

यशोविजय ने कहा—'यश, तुम मेरी किसी असाधारणता पर नहीं, अपनी असाधारणता पर मुग्ध हो। पर यह भ्रम है। सुनो, मैं द्वार खोलकर जयवीर के पास जा रहा हूँ—चौंको नहीं, डरो नहीं। एक बार मुझे कुछ वह भी करने दो जो तुम्हारी योजना से बाहर है। जयवीर मुझे पकड़ सकता है, सजा दे सकता है, पर वह यह न करेगा। मेरी मृत्यु अभी नहीं है। लेकिन मैं यह नहीं देख सकता कि जयवीर को मुझ से लड़ना हो।'

यश—'न, न—वहाँ न जाओ। मैंने ही इस राज्य में तुम्हारे लिए नाग-फाँस बो दिए हैं। तुम्हारे नाम का यहाँ इतना आतङ्क है कि डर के कारण ही वे तुम से घृणा करने को लाचार हैं। अवस्था यह है कि वह चाहने पर भी तुम से सन्धि नहीं कर सकते,

तुम्हारा इतना गहरा अविश्वास यहाँ फैला दिया गया है। जानते हो—क्यों ? इसलिए कि युद्ध हो और तुम विजयी हो। यहाँ एक मैं हूँ जो तुम्हें प्रेम करती हूँ। और मैं हूँ जो सब घृणा की जड़ में हूँ। यह मेरे ही कक्ष में तुम सुरक्षित हो। बाहर तुम्हारी खैर नहीं है और मैं किसी तरह तुम्हें बाहर नहीं जाने दूँगी।'

यशोविजय ने हँसकर कहा—'तुम मुझे कैद करोगी ? यही तो मैं चाहता हूँ।'

यश—'मेरे दो विश्वस्त अनुचर तुम्हें नगर से बाहर पहुँचा आयँगे, तुम किसी तरह यहाँ किसी पर प्रकट न हो सकोगे।'

यशोविजय मुस्कराकर बोले—'राजा यशोविजय को इस प्रकार आने-जाने का अभ्यास नहीं है, यश ! और तुम निःशङ्क रहो। प्रेमवश तुम्हारी वह घृणा मेरा उपकार न कर सकेगी।'

यह कह कर बिना कुछ और सुने जयवीर की ओर के कक्ष का द्वार खोल कर यशोविजय वहाँ से चले गये। यशस्तिलका भय-कातर होकर देखती-भर रह गई। सोच उठी कि क्यों न झपटकर अभी यशोविजय को आसन्न मृत्यु में से मैं खींच लाऊँ ? पर उसके देखते-देखते दूसरी ओर से वह द्वार बन्द कर दिया गया। तब परकटे पक्षी की भाँति वह अपने बिस्तर पर आ पड़ी।

* * *

अगले दिन मालूम हुआ कि जयवीर सन्धि के लिए तैयार है। और दोनों ओर के मन्त्रियों की मन्त्रणा तीसरे स्थान पर होनी तय पाई गई है।

यशस्तिलका ने पति से कहा—'यह तुम्हें क्या होगया है ? दो दिन पहले तुम युद्ध को तत्पर थे; इस बीच क्या नई बात हुई ?'

जयवीर ने कहा—'रात यशोविजय आया था।'

यश चौंक कर बोली—'यशोविजय ?'

'हाँ, यह कहने आया था कि संघ के अधिनायकत्व के लिए वह मेरा समर्थन करेगा। स्वयं वह चुनाव में खड़ा नहीं होगा। इस आधार पर मैं जरूर सन्धि कर सकता हूँ।'

यश ने कहा—'और तुमने उसका भरोसा कर लिया ?'

'कर लिया।'

'क्या कह रहे हो ? यशोविजय का विश्वास !'

जयवीर ने कहा—'विश्वास का कारण है। एक तो यह कि उसके पास शस्त्र और सेना ज्यादा है। दूसरे यह कि उसने मुझे बताया कि वह तुम से मिलकर आया है।'

सुनकर यश चीख़-सी मार-कर आँखें फाड़े स्तब्ध रह गई।

जयवीर ने कहा—'यश, तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है। तुम्हें आराम करना चाहिए।'

'तो तुम सन्धि करोगे ?'

जयवीर ने कहा—'मैं दूसरा मार्ग स्वीकार नहीं कर सकता। यशोविजय का कहना था कि मैं उसके राज्य को अपने में मिला लूँ और और वह मेरे अधीन मन्त्री होने को तैयार है। शर्त यही कि सम्मिलित राज्य-संघ का समर्थन करे। पर यश तुम्हारी छोटी बहन का पति राजा से कम हो—इसमें हमारी शोभा नहीं है। इसलिए दूसरा सन्धि का मार्ग ही मैंने स्वीकार किया—'

यश चकित, विस्मित-सी रह गई थी। एकाएक बोली—'यशोविजय; तुम्हारा मन्त्री ! और तुमने स्वीकार नहीं किया ?'

'हाँ, वह यही कहने आया था, और मैंने स्वीकार नहीं किया।' मैंने कहा—'तुम्हारे पास तो मुझ से ज्यादा फ़ौज है, तो वह आँसू भर लाया। ऐसे आदमी का तुम मुझे अविश्वास करने को कहती

हो ? लेकिन यश, वह तो कहता था कि तुम सन्धि के लिए राजी हो चुकी हो !'

यश जैसे चौंककर बोली—'क्या, कौन ?'

जयवीर ने कहा—'बात उठते ही मैंने उससे कहा कि सन्धि के बारे में यश से पूछना होगा।' तब वह बोला—'क्षमा करना, मैं वहीं से आ रहा हूँ। यश ने मुझे मुआफ़ कर दिया है। और वह सन्धि के लिए राजी है। क्यों, क्या यह बात झूठ है ?'

यश ने कहा—'नहीं, सच है।'

कहते हुए उसकी वाणी साधारण से भी अधिक स्थिर थी। फिर भी हठात् हँसकर बोली—'तुमने उसका अविश्वास नहीं किया ? आधी रात मेरे कक्ष से आरहा था, वह क्या सज्जन का लक्षण है ?'

जयवीर ने कहा—'तुम्हारा अविश्वास करूँगा, उस दिन क्या मैं जीवित रहूँगा ?'

यह सुनकर यश अपने पति की ओर निहारती रह गई। बोली—'मेरे कारण तुम्हें यशोविजय का विश्वास करना पड़ा। क्यों ?'

जयवीर ने कहा—'हाँ—आधी रात तुम्हारे पास से आकर खुद मुझे जगाकर कोई मुझसे झूठ तो नहीं कह सकेगा ?'

यश ने कहा—'अच्छा तो उठो, मुझे मेरे कक्ष तक पहुँचा आओ।'

राह में

रेल तेज़ी से दौड़ती चली जा रही थी। लेकिन मन की गति जैसे उसके अन्दर एकाएक रुक गई थी। वह उसके लिए तैयार न था। जानता था कि बहुत से लोग उसे जानते हैं और मानते भी हैं कि वह एक नेता है। जुलूस के वह आगे था। उसे बढ़कर अफसरों से कुछ बातें करनी हुई थीं। इसी बीच जाने कहाँ से उसके पास दो–एक ईंट के टुकड़े आ पड़े। तभी लाठियाँ लेकर पुलिस के सिपाही भीड़ पर टूट पड़े। और देखा गया कि भीड़ तितर-बितर हो गई। वह अफ़सरों के पास, उन अफ़सरों के अपने आदमियों के घेरे में, उस तमाम काल सुरक्षित बना रहा। उसने देखा कि अफसर लोग काफी शान्त हैं, प्रसन्न हैं और उसके प्रति नम्र भी हैं। उसने चाहा कि वह क्रोध करे, लेकिन सामने उसके किसी प्रकार की अभद्रता न आ सकी, बल्कि उसके आगे पान की तश्तरी पेश की गई। उसने ज़ोर लगा कर कहा—'आप लोगों को शर्म नहीं नहीं आती।'

सुनकर किसी के पास कोई शर्म नहीं आई। डिप्टी मजिस्ट्रेट

श्री सिन्हा ने कहा—'आप लोग सत्याग्रह करना चाहते हैं। लेकिन, क्या इसका पता नहीं रख सकते कि आप के साथ गुण्डे ज्यादा हैं या शरीफ आदमी। लीजिये, पान लीजिये।'

उसने पान नहीं लिया। कहा—'माफ कीजियेगा, मैं····'

'अजी लीजिये भी। कभी फिर हमारे गुनाह की सज़ा ले लीजियेगा। पान ने क्या गुनाह किया है, लीजिये।'

'सत्याग्रह में अवज्ञा सविनय होनी चाहिये। शिष्टता का जवाब अतिरिक्त शिष्टता से ही दिया जा सकता है।'

कुछ देर वह असमन्जस में रहा। डिप्टी मजिस्ट्रेट ने फिर कहा—जी हाँ, देखिये····ज़र्दा।'

पान कुछ देर उसके हाथों में थमा रहा। जर्दे को उसने इनकार किया। फिर कुछ अनिश्चित भाव से पान को मुँह में रखकर एक अनिश्चित-सी मुस्कुराहट से उसने कहा—'यह सही है कि हम आप दुश्मन नहीं हैं लेकिन क्या आप नहीं देखते कि लाठियों से जिनको आपने अभी पीट भगाया है वे आपके भाई-बन्ध हैं। वे इसी धरती के हैं और आप भी किसी और धरती के नहीं हैं। क्या आप समझते हैं कि अंगरेज़ आपको तन्ख्वाह देते हैं? वह इन्हीं लोगों की जेबों से आती है। अंगरेजों की खैरख्वाही—'

'जी हाँ····देखिये थानेदार साहब, आप अभी मेरे साथ चलते हैं, रमेशजी मेरे साथ चलते हैं। आप, मैं समझता हूँ, घण्टे भर में बंगले पर आ सकेंगे।'

थानेदार ने झुक कर सलाम किया और सिन्हा साहब रमेश को अपनी कार में····।

फिर क्या हुआ, सोचकर रमेश का मन बैठा आता है। वह चुपचाप उस शहर में रेल में बैठ कर दूर चला जा रहा है। शहर,

जरूर उसका अपना नहीं है। वह दूसरे के ज़िले का रहने वाला है। लेकिन वह सब उसके मनको ढाढ़स नहीं दे पाता। पीछे लोग कुछ घायल होकर अस्पताल में पड़े हैं; कुछ गिरफ़्तारियाँ भी हुई हैं लेकिन वह रेल में बैठकर अपने घर जा रहा है। ठीक है कि वह सिर्फ़ व्याख्यान के लिये उस नगर में बुलाया गया था। ठीक है कि वह जुलूस का ज़िम्मेदार नहीं था। ठीक है कि जुलूस के आगे उसका होना एक उपकार-संयोग मात्र था। लेकिन यह सब समझ कर भी वह अपने मन को समझा नहीं पाता। सिन्हा के घर पहुँच कर उसने वाक़ायदा खाना खाया। क्रान्ति की सम्भावना और उपयोगिता पर चर्चा की। वह नहीं जानता कि उसके भतीजे के साथ मिस्टर सिन्हा की छोटी कन्या के रिश्ते की बातचीत चल रही है। अपनी तरफ से उसने सख्त-सुस्त कहने की कसर नहीं रखी। लेकिन अन्त में उसने पाया कि चुपचाप रेल में बैठ कर वह चला ही आया।

* * *

रेल तेज़ी से चली जा रही थी। पेड़, अँधेरे निशान-से खिड़की में से—पीछे की तरफ भागते हुए दीखते थे। डिब्बा सैकेण्ड क्लास का था और सामने की बेंच पर एक अधेड़ वय की यूरोपियन महिला के सिवा कोई और न था। खम्भों से बँधे हुए बिजली के तार रेल की रफ्तार में ऊँचे-नीचे होते हुए उसे दीख आते, कभी छिपते और कभी एकाएक नीचे की तरफ भूल आते। महिला अख़बार को पूरा खोले इस तरह पढ़ रही थी कि उसका सब-कुछ उसकी आँखों से छिपा था। किसी कदर मोटी पेडुलियों पर कसी बैठी जुर्राबें उसे नज़र आईं, जिनको फिर ऊपर साये के छोर ने ढँक लिया था। उसने चाहा कि अख़बार बीच में न होता तो

अंगरेज जाति के अत्याचार पर इन मेम-साहब को कुछ तो लज्जित करने की कोशिश करता। वह अपने रोष को चाहता था कहीं डाल सके, किसी के ऊपर थोप दे सके। लेकिन बाहर भागते दीखते पेड़, ऊपर-नीचे झूलते तार, आर-पार अवकाश देने वाली खिड़की, रेल का डिब्बा, बेंच और उसपर बैठी अख़बार में डूबी महिला—मानो कहीं कोई उसके इस रोष में साझा बँटाने को तैयार न था।

उसने पोर्टमैन्टो पास खींचा और खोलकर दो-एक हल्की किताबें बाहर कीं। इधर-उधर सफे पलटे—पढ़ना चाहा लेकिन पाँच-एक मिनट में किताबें एक तरफ़ होकर लेट गईं। अभी तक स्टेशन नहीं आया था। स्टेशनों में इतना फासला क्यों (रखा जाता है), स्टेशन पर उतर कर वह पानी लेगा नहीं तो कुछ फल। संतरे से ताज़गी रहेगी। उसका गला सूखा जा रहा है। गले पर सहसा उसका हाथ गया तो मालूम हुआ कि शेरवानी उसे कस रही है। उसने शेरवानी को उतारा और टाँग दिया। उसे अजब मालूम हुआ कि शेरवानी के उतरते ही जैसे उसे गर्मी लगने लगी। कमीज़ वह उतार नहीं सकता था लेकिन बटन उसने सब खोल लिये।

पर नहीं। कहीं उसका मन नहीं अटक सका। न बाहर खेतों और मेंडों में, न अन्दर महिला की कसी जुर्राबों में। सब तरफ़ से लौट-लौट आकर मानो उसका मन उसी से पूछने लगा कि वह क्यों वहाँ जारहा है। इसीलिए न कि वहाँ उसका घर है। यानी एक स्त्री है जिसको वह अपनी स्त्री कहता है। कुछ बच्चे हैं जिनको अपने बच्चे कहता है। मकान है, सामान है, इज्ज़त है जिनको वह अपनी कहता है। इसलिए वहाँ जा रहा है, और जो लाठियों से घायल हुए हैं, जिन्होंने उसे अपना अगुआ माना वे अपने नहीं हैं, ग़ैर हैं; ग़ैर-ज़िले के हैं। उनके नाम-धाम वह नहीं

जानता। संख्या तक नहीं जानता। अगुआ है तो होगा लेकिन पत्नी के प्रति पतित्व की और बच्चों के प्रति पितृत्व की उस पर जो जिम्मेदारी है, उस तरह अगुआपन की कोई ज़िम्मेदारी उस पर नहीं आती। क्यों, यही न। सब तरफ से देखकर अनदेखा-सा वह अपने अन्दर यही देखने लगा कि जो अपना नहीं है वहाँ से वह उनकी तरफ जा रहा है जो अपने हैं—सगे हैं।

छाती पर टटोल कर देखा कि कमीज़ और आगे नहीं खुल सकती है। और वह उसे फाड़ भी नहीं सकता। लेकिन उसे गर्मी मालूम हो रही है।

उसकी आँखों के आगे वह भली, सुन्दर और तेज़ कन्या आई जो निश्चय ही वहू बनकर उसके घर की श्री और शोभा को बढ़ाने वाली होगी। साथ उसके उसे अपने भतीजे का चेहरा दिखाई दिया जो इस सम्बन्ध पर प्रसन्न और सौभाग्यशाली होगा। जोड़ी तो अच्छी है। ठीक रहेगी। लेकिन एकाएक ज़ोर से अलग लेटी किताब को उसने खींचा और चाहा कि उसके शब्द और वाक्य ही उसे दीखें, बाकी कुछ भी और न दीखे।

धीरे-धीरे ट्रेन की चाल धीमी हुई। और स्टेशन पास आया। रमेश को चैन का साँस आया। तेजी से वह प्लेटफार्म पर उतरा। कुछ दूर गया, लेकिन मालूम हुआ पानी के लिए पात्र तो कोई वह लाया नहीं है। लौटकर झपट कर गिलास निकाला और करीब दौड़कर पानी के लिए चला लेकिन तभी व्याघात पड़ा। एक युवक आया और गिलास की तरफ हाथ बढ़ाते हुए कहा—'लाइये—मैं लिये आता हूँ—प्रणाम।'

कमीज के सब बटन खुले थे। रमेश की हालत लीडराना नहीं

थी। वह असमञ्जस में कुछ देर उस युवक को बिना पहचाने देखता रह गया।

'लाइये-लाइये, मैं अभी ले आता हूँ।' युवक ने मानो गिलास बलात् छीन लिया और दौड़कर पानी ले आया। उसके आने पर रमेश ने मुस्करा कर कहा। 'तुमने व्यर्थ कष्ट किया।'

युवक लज्जित हुआ। शरमाकर कष्ट होने को उसने स्वीकार किया। पूछा—'कहाँ से आ रहे हो ?'

"कुछ नहीं, यहीं पास ही से।"

'सुना है, बाबूजी मायापुर में बड़े ज़ोर का लाठी-चार्ज हुआ है।'

'कहाँ ? हाँ, मायापुर में। आओ आओ, कहाँ बैठे हो ?'

'मैं ? जी ये सामने थर्ड में हूँ।'

'अच्छा, अच्छा पढ़ते हो ?'

'जी।'

'बेटा, इस तरह हम लोगों की आदत न बिगाड़ा करो। हमको एक गिलास पानी लेने का मौका न दोगे तो कैसे चलेगा। ऐसे क्या देश के काम के लायक रहेंगे। अच्छा-अच्छा।' कहकर तेज़ी के साथ रमेश अपने कम्पार्टमेण्ट में आया। महिला के सामने अब अखबार न था। देह कुछ स्थूल थी और रमेश ने उसकी तरफ घूर कर देखा। भारत की राष्ट्रीयता की शत्रु समूची अंग्रेज़-जाति की प्रतिनिधि ही यह क्यों न हुई। सिर्फ अधेड़ उम्र की फुसफुसी महिला ही होकर क्यों रह गयी कि अब किसी तरह का पौरुषपूर्ण आक्रोश भी उस पर नहीं उतारा जा सकता। गिलास हाथ में लिये उसने पूछा—'आप कहाँ जा रही हैं ?'

'दिल्ली।'

महिला की नीली-सी आँखों को देखकर रमेश ने पूछा—'पानी।'

साभार भाव से महिला ने कहा—'धन्यवाद।'

ज्यों-का-त्यों गिलास महिला के हाथ में देकर उसके अपने कण्ठ को मालूम हुआ कि वहाँ प्यास एकदम नहीं रह गयी है।

एक घूँट में गिलास खाली कर आगे बढ़ाकर उस महिला ने पूछा—'आप कांग्रेसमैन हैं?'

'जी, आपके कोपभाजन।'

गिलास लेकर उसने ऊपर बर्थ फेंक पर दिया। कहा—'माफ कीजियेगा। लेकिन सत्य तो सत्य है।'

महिला की आकृति पर कष्ट लिख आया। उसने कहा—'मैं जर्मन हूँ। लेकिन रंग की गोरी हूँ, इससे शायद आप मुझे भी माफ करना नहीं चाहेंगे।'

रमेश सुनकर एकाएक असमन्जस में पड़ा, लेकिन सहसा अपने तनाव को वह खो नहीं सका। कहा—'आप यह तो मानेंगी ही कि गोरा रंग काले से ऊँचा है।'

महिला चकित और कुछ भीत रमेश की ओर देखती रह गई। कानों से उसने सुना किन्तु मानो उसका विश्वास नहीं कर सकी। कहा—'परमात्मा को क्या आप एक नहीं मानते। काले-गोरे क्या सब उसी एक के नहीं हैं। लेकिन अंग्रेज ने गजब किया है कि आपके लिए अपने गोरे न होने की याद इतनी जरूरी बनी रहती है।'

रमेश ने कहा—'हिन्दुस्तान में क्या अब भी कुछ खून बचा है कि आप लोग सात-समुन्दर पार करके आते ही जाते हैं।'

स्तब्ध बनकर महिला रमेश को देखती रह गई। घबरा कर बोली—'मैं बहुत-बहुत खिन्न हूँ। मुझे माफ कीजिये।' और झटपट

अपने साथ के थैले में से कुछ टाफ़ी निकालकर रमेश की तरफ बढ़ाई। कहा—'लीजिये यह सन्धि का हाथ है।'

रमेश ने कहा—'मैं बच्चा नही हूँ।'

महिला ने खिलखिलाकर हँसते हुए कहा—'लेकिन मैं तो अभी बच्ची हूँ। और कहकर दो-तीन टाफी अपने मुँह में भर लीं और हाथ बढ़ाकर भरे और बन्द मुँह से बोलने की कोशिश करते हुए कहा, 'लो न, तुमसे बड़ी होकर मैं बच्ची बन सकती हूँ तो तुम भी बन सकते हो। नहीं; निराश मैं तुम्हें नहीं होने दूँगी।' रमेश देखता रह गया। कुछ समझा नहीं।

महिला हँसती हुई अपनी जगह से उठ खड़ी हुई। अपने दोनों हाथों से उसको दोनों बाहों पर पकड़ा और मानों देह के ज़ोर से अपने पास बैठा लिया। और तेज़ी से एक दो-तीन चार टाफी उसके मुँह में भर दीं।

नई व्यवस्था

बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक के अन्त की ओर आरम्भ होने वाले इस युद्ध ने जगत् की आँखें खोल दीं। जन-संख्या आधी रह गई। स्त्रियों का अनुपात पुरुषों से दुगना बढ़ गया। युद्ध की समाप्ति पर लोक-दक्षों ने सोचा कि ऐसे नहीं चलेगा। जगत् की कुछ नई व्यवस्था करनी होगी। विश्व अब राष्ट्रों में बँटा नहीं होगा। राष्ट्र यदि मूल इकाई रहते हैं तो मिलना-न-मिलना उन पर निर्भर रहता है। इस तरह जगत् अखण्ड होने में नहीं आता। अब इस स्थापना से चलना होगा कि विश्व एक है। अतः अब देश नहीं होंगे। सोचा गया कि विभाग चार हों—उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम। यही नैसर्गिक है। ये चारों विभाग एक अन्तर्विभागीय संस्था में संयुक्त हों। भूमध्य-रेखा के उत्तर में तेंतीस अंश की देशान्तर-रेखा से ऊपर का भाग उत्तर और मकर-रेखा से नीचे का भाग दक्षिण ठहराया गया। बीच के अंश में पूर्व-पश्चिम की पहचान के लिए जो अक्षांश रेखा वर्तमान लालसागर के मध्य से जाती है उसको विभाजक-रेखा करार दिया गया। अन्तर्विभागीय केन्द्र में तीन सर्वाधिकारी

नियन्ता सदस्य हुए और विभागों के चार अलग-अलग अध्यक्ष नियत हुए।

नीति स्थिर हुई। नक्शे बने और नई व्यवस्था शुरू हुई। चारों विभागीय अध्यक्षों ने तीन केन्द्रीय सदस्यों के साथ मिलकर व्यवस्था-सम्बन्धी सब समस्याओं पर विचार किया और यथावश्यक निर्णय किया। अन्त में पूर्व के विभागाध्यक्ष ने कहा—'ईश्वर के बारे में हमारी नीति और स्पष्ट होनी चाहिए। यह संज्ञा किसके लिए है यह तय हो जाना चाहिए। ईश्वर व्यक्ति नहीं, वर्ग नहीं, फिर भी सब कहीं इस संज्ञा का प्रवेश है। इस से सुविधा भी होती है और असुविधा भी होती है। इस विषय में विश्व-व्यवस्था की दृष्टि से हमें एक और स्पष्ट नीति बना लेनी चाहिए।'

बात संगत थी। उस पर काफ़ी विवेचन हुआ। प्रतीत हुआ कि ईश्वर नामक संज्ञा सुव्यवस्था में सहायता तो अवश्य देती है। व्यवस्था का सार है बँटवारा, जिसका अर्थ है श्रेणी। श्रेणी में तर-तमता आ ही जाती है। इस कारण किंचित् घट-बढ़पन का भाव आना भी अनिवार्य है। 'ईश्वर' की मदद से इस अनिवार्य विषम भाव का विष-निवारण हो जाता है और श्रेणी-विभाजन में एक औचित्य आ जाता है। ईश्वर न हो तो भाग्याधीन भाव व्यक्ति में से नष्ट हो जाय और सबमें परस्पर स्पर्द्धा-बुद्धि जगी रहे। इस तरह व्यक्ति सदा असन्तोष में ही धधकता रहे।

चर्चा में इतिहास की ओर भी दृग्पात हुआ। उस इतिहास पर फैला हुआ दिखाई दिया कि शासन ने सदा देवता की सहायता ली है। वह देवता अधिकांश प्रजा की मान्यता में से ले लिया गया है। विजय या कूटनीति के बल पर राज्य-विस्तार हुआ है तो एका-

धिक देवताओं के समुच्चय-रूप में नये-नये राज-देवताओं का आविर्भाव हुआ है। क्रांति हुई है तो पुरातन को पदाक्रान्त करके भूल से कोई नया ही देवता गढ़ डाला गया है। इस देवता के मान-पूजा की सरकार ने चिन्ता और व्यवस्था की है। उसके अधिवास का नाम मन्दिर रखा है, जिसका महल से भी अधिक महत्त्व है। एक पूरा विभाग उस देवता की सुरक्षा, सेवा, प्रतिष्ठा और प्रचार के लिए नियुक्त हुआ हैं। देशों में, जातियों में, अपने देवता को लेकर एकता आई है। जिन्होंने कुछ बदलना चाहा है, यदि समझदार थे तो उन्होंने आरम्भ उस देवता से किया है। नई व्यवस्था यानी नया देवता। एक व्यवस्था यानी एक देवता। सचमुच दुनिया यदि एक है तो यहाँ ईमान भी एक होना चाहिए। एक देवता, एक पूजा, एक मन्दिर, एक मुद्रा।

लेकिन दूसरा दृष्टिकोण था कि क्या देवता होना ही चाहिए? देवता सम्प्रदायों में भेद-रक्षा के लिए बने। एक गिरोह ने अपने संगठन के लिए अपना देवता बनाया, पर संगठन दूसरे गिरोह से मोरचा लेने के लिए बनाया। इस तरह देखा जाय तो देवता की वहीं जरूरत है जहाँ अनेकता हो। दुनिया जब एक है, तब देवता अनावश्यक हैं।

इस भाँति बहुत देर तक विवाद रहा और निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं हुआ।

पूर्व के वि भागाध्यक्ष ने कहा—'देवता का प्रश्न ईश्वर से भिन्न है। देवता अनेक हैं, ईश्वर एक है। लड़ने वालों के देवता अलग-अलग होते हैं, पर दोनों एक ईश्वर को मानते हैं। इस तरह लड़ते हुए भी उनके बीच जमीन रहती है, जहाँ वे सन्धि पर आ सकें।'

इस पर पश्चिमाधिकारी ने कहा—'ठीक यही जमीन है जहाँ

खड़े होकर अपनी लड़ाई को वे धर्म-युद्ध का रूप दे पाते हैं। यह धर्म ही युद्ध को विकराल बनाता है।'

ख़ैर, यह तय हुआ कि तीन व्यक्तियों की एक तत्त्व-समिति बैठाई जाय जो निम्नांकित बिन्दुओं पर अपना मन्तव्य उपस्थित करे :

(१) ईश्वर होना चाहिए कि नहीं ?

(२) यदि हाँ, तो किस रूप में, किस मात्रा में ?

(३) व्यवस्था और शासन के साथ इस ईश्वर का क्या सम्बन्ध हो ?

(४) ईश्वर केवल मान्यता हो कि संस्था भी हो ?

(५) यदि संस्था हो तो विश्व-व्यवस्था के व्यूह में उसे कहाँ किस पंक्ति में किस प्रकार हल करके बिठाया जाय ?

समिति को इस शोध के लिए तीन वर्ष का अवकाश मिला।

दुनिया के पास अब लड़ाई नहीं थी। इसलिए एक उत्साहप्रद विषय की आवश्यकता थी। शान्ति में उत्साह नहीं होता। संघर्ष उर्वर है। समिति के सदस्यों ने बैठकर आपस में आरम्भिक बातचीत की तो उसमें गर्मी विशेष नहीं आई। गर्मी तत्त्व में नहीं, राग-द्वेष में हैं। इसलिए एक लम्बा प्रश्न-पत्र तैयार किया गया जो तमाम विद्वानों के पास भेजा जाय। और सब अख़बारों में भी छपे ताकि गर्मा-गर्मी उपजे और विचार प्रबलता के साथ किया जा सके।

लड़ाई के बाद थकान थी और अध्यक्षों के पास रचनात्मक के अतिरिक्त शासन-दमन का विशेष काम न था। यह उनके राजकीय दायित्व के लिए अपर्याप्त था। अब ईश्वर को लेकर सब जगह ख़ासी सरगर्मी दिखाई देने लगी और अध्यक्ष सचेत हो गए।

धीमे-धीमे गर्मी के फलस्वरूप विश्व की अखण्डता में दरार हो गई। दक्षिण-पूर्व-विभाग का लोक-मत पश्चिमोत्तर-विभागों से मिलता नहीं दिखाई देता। क्यों ऐसा होना चाहिए, इसका कारण ऐतिहासिक और भौगोलिक हो तो हो, दूसरा कोई तर्क-शुद्ध कारण नहीं है। शिक्षा अब एक है, मुद्रा एक है, सरकार एक है। फिर भी यदि परिणाम में अन्तर है तो उसे अवैध और अनुचित कहना चाहिए। जो हो, प्रस्तुत स्थिति है कि समानता का तल अतल में धसक गया है और मतभेद ही उभरता चला आ रहा है।

दो वर्ष बीतते-न-बीतते अन्तर्विभागीय केन्द्र के सदस्यों को इस समस्या पर विचार करने के लिए एकत्र होना पड़ा। वातावरण क्षुब्ध था। किन्तु देखा गया कि अन्तर उनमें भी वैसा ही बना है! एक की मान्यता है कि ईश्वर को सर्वोपरि सत्ता स्वीकार करके और सब कहीं उसी के नाम पर शासन चलाने के प्रयत्न और आश्वासन से हम विश्व की एकता को कायम और मजबूत रख सकेंगे। दूसरे का कहना है कि ईश्वर-तत्त्व मानव-व्यापार में असङ्गत है। यदि वह फिर भी लाया जाता है तो अहितकर है। असमर्थ ईश्वर का नाम ले तो समझ में आ सकता है। उसकी असमर्थता ही उसे सह्य बनाती है। पर सोच-विचार कर ईश्वर को बीच में लाना तो निश्चय ही अपने बीच एक ऐसे अनिष्ट तत्त्व का प्रवेश करना है कि जिसको लेकर बुद्धिपूर्वक हम कोई योजना ही नहीं चला सकते।

दोनों ओर दो ऐसे व्यक्ति थे जिनको मानव-जाति की व्यवस्था का पूरा अनुभव था। उनको केवल सिद्धान्तवादी ही नहीं कहा जा सकता था, वे व्यवहार और वर्त्तमान के भी पुरुष थे। उन दोनों में गहरा अन्तर देखा गया। विवाद से वह अन्तर और भी प्रशस्त

दिखाई दे आया। जान पड़ा दोनों दो तटों पर हैं और अपनी जगह से च्युत होकर कोई एक दूसरे के पास आने को तैयार नहीं है। तब केन्द्र के तीसरे सदस्य ने कहा कि इस प्रश्न को यहीं बन्द कर देना चाहिए। किन्तु प्रश्न नामक वस्तु बन्द नहीं होती, दबती ही है। और जब प्रश्न स्वयं विवेक के शीर्ष-स्थान पर जा पहुँचा हो तो वह दबे भी तो कहाँ से और किससे? अतः केन्द्र की बैठक कई दिनों तक चलती रही। अन्त में दो सदस्यों ने त्याग-पत्र दे दिया और तीसरे ने घोषणा की कि केन्द्र भंग हो गया।

अब चारों दिशाओं में चार अध्यक्ष रहे। वही शेष थे, वही सब थे। तीन व्यक्तियों की मूल-तत्त्व-समिति की वैधानिक स्थिति कुछ न थी। प्रश्न को सुलगा दिया, यह उनका काम काफ़ी था, वह दहक चला। ऐसे समय अध्यक्ष लोक-तन्त्रीय अभ्यास और नीति के कारण परस्पर की व्यक्तिगत मित्रता पर विशेष नहीं अटक सकते थे। पूर्व-वर्गपक्ष एक ओर अटल था। वह पक्ष था कि ईश्वर-पूर्वक ही रहा जा सकता है, अन्यथा जीवन वृथा है। ऐसे जीवन का मोह हमें नहीं है। पश्चिम की नास्तिकता प्राण रहते हम नहीं चलने देंगे। इस प्रकार का लोक-मत प्रबलता के साथ पूर्व के पत्रों में हुँकार मारने लगा।

पश्चिम उधर जागृत था। ईश्वर उसे सह्य हो सकता है; लेकिन शासन का अंग और साधन होकर ही। यहीं तक उसकी सार्थकता है। आगे उसे बढ़ने दिया जाय, यह तो अब तक हुई उन्नति से हाथ धो लेना है। वे नहीं जानते जो ईश्वर को मानते हैं। विकास ऐसों के लिए नहीं ठहरेगा। और यदि यही होना है तो भविष्य की ओरदृष्टि रखकर हम एक और रक्त-स्नान के लिए तैयार हैं।

मानव-मेधा के स्वर्णोदय में हमारी निष्ठा है। अन्धकार के युग को अब हम किसी कोने में भी बचा नहीं रहने देंगे। सभ्यता का दीप-स्तम्भ हमारे हाथ है और हम उसके आलोक को लेकर पूर्व की जड़ता और जाड्यता को ध्वस्त करके ही छोड़ेंगे।

ऐसे ही समय वक्तव्यों और विज्ञप्तियों से ज्ञात हुआ कि दिग्विभागों के अध्यक्ष यद्यपि जगत् को अखण्ड मानते हैं, लेकिन अपने खण्ड की परम्परा और संस्कृति की रक्षा को भी परम कर्त्तव्य मानते हैं। वह भी विदित हुआ कि [पूर्व की दृष्टि में] पूर्व की परम्परा एक ओर अपूर्व है, और [पश्चिम की दृष्टि में] पश्चिम की परम्परा उतना ही निजी और अद्वितीय है।

इस अवसर पर दक्षिण भाग के एक पत्र ने याद दिलाई कि अमुक दिन तो लाल-सागर की अक्षांश रेखा मानकर पूर्व-पश्चिम की हमने ही सृष्टि की थी। तब क्या स्पष्ट न होगया था कि पूर्व-पश्चिम नाम की कोई वस्तु नहीं है। फिर यह झगड़ा क्या है? क्या पिछले युद्ध के बाद हम सबने नहीं पहचाना था कि देशों की सीमा-रेखाएँ झूठी हैं और उनकी संस्कृतियों की निजता भी तब तक दम्भ है जब तक उनकी अपनी विशिष्ट संस्कृति का भान जगत् की निखिलता में आत्मसात् होने की ही प्रेरणा उन्हें नहीं देता। ये चार विभाग उस दिन क्या सब प्रकार की अहंताओं को मिटाकर मात्र व्यवस्था की सुविधा के लिए ही नहीं बनाये गए थे? क्या स्वयं विभागाध्यक्षों को उस घोषणा-पत्र की याद दिलानी होगी जो उन्हीं के हस्ताक्षरों से प्रचारित हुआ था? उसकी स्याही भी नहीं सूखी है और यह हम क्या देखते हैं?

इस तरह की भावना अन्य तीनों विभागों के छुट-पुट पत्रों में

भी प्रकट होती देखी गई, पर यह लिखने वाले आदर्शवादी थे। ये विचारक थे, दार्शनिक थे, लेखक थे,। ये यथार्थ से दूर कल्पना में रहने वाले लोग थे। इनकी सुनना स्वप्न पर उड़ना था।

व्यवहार-दलों ने सभा-मन्च से कहा कि तीन वर्ष से क्या स्थिति नहीं बदली है? व्यवहार क्षण-क्षण बदलती स्थिति को ध्यान में रखता है। वस्तुजगत् में सीधी रेखा कहाँ है? कौन कहता है कि दिग्विभाजन काल्पनिक है? उसका मूल सहस्राब्दियों गहरा और ठोस है। और वे भी भ्रम में है जो मानते हैं कि किन्हीं अक्षांश अथवा देशान्तर-रेखाओं को विभाजन-रेखा बनाना किसी कल्पित सिद्धान्त पर हुआ था। उसके पीछे वैज्ञानिक और ठोस शास्त्रीय कारण थे। पूर्व और पश्चिम दो हैं और रहेंगे। लोक-दक्षों ने कहा कि अखण्डता भ्रम है और खण्डन शाश्वत है। उससे डरना नहीं होगा।

इस प्रकार ईश्वर के स्वरूप से चलकर प्रश्न पूर्व और पश्चिम की अर्थात् अपनी-अपनी, विशिष्टता का हो रहा। तब इतिहासों में से अतीत गौरव का पुनराविष्कार हुआ। अपने-अपने विजेता, नेता और पराक्रमी पुरुष काल के गर्भ से निकल कर चेतावनी देते हुए जाग खड़े हुए। पूर्व की महिमा का उदय हुआ और उसके उन्नत भविष्य के चित्रों की अवतारणा हुई। इसी प्रकार पश्चिम को भावी निर्माण के प्रति अपने दायित्त्व के सम्बन्ध में सचेत होना पड़ा। उसने पहचाना कि वही तो मूर्धन्य है, उसी के हाथ में तो विज्ञान का विद्युत्-प्रकाश है, जो आगे के मार्ग को आलोकित करेगा। पूर्व!—वह सदा से जड़ता का गढ़ रहा है। इस बार आगे बढ़कर उसके कोने-कोने में हम अपना प्रकाश लेकर पहुँचेंगे।

भविष्य का सन्देश लेकर हमें आगे बढ़ना होगा। हम मानवता के अग्रदूत हैं।

सारांश, तैयारियाँ हो रही हैं और नई व्यवस्था तीन वर्ष में दूसरी नई के लिए जगह करती दीखती है।

रानी महामाया

हेमवन्त नाम का एक द्वीप था। वहाँ रानी महामाया राज्य करती थीं। उनको पता नहीं था कि वह विधवा हैं या क्या! राजा वैजयन्त एक रोज आखेट के लिए कहकर गये थे और फिर न लौटे थे। यह तब की बात है, जब रानी महामाया अपने को जानने के निकट आ रही थीं। दुनिया में रसदर्शन और अर्थदर्शन की परख होने का समय उनका आ ही-सा गया था। अब तक काल मानो अभिसार में बीता था। अभिलाषाएँ स्वप्निल थीं, रंगीन, और उनमें अभी टीस उग रही थी। समय आया था कि क्रीड़ा-क्रीड़ा में जिसको पाती रही हैं, गहरे प्राणों में उसको उपलब्ध करें, अनस्थिर प्रगाढ़ता के साथ उसे अपने भीतर ले लें।

ऐसे ही समय प्रियतम ने कहा—'प्रिये, मैं आखेट के लिए जाता हूँ।'

रानी ने पूछा—'कब आओगे?'

'कब आऊँगा?' और राजा किंचित् मुसकराये।—'तुमको चिन्ता होती है, प्रिये? शंका होती है?'

रानी सदा की भाँति बाहुओं को फैलाकर प्रियतम को अपने पाश में ले लेने को नहीं बढ़ सकी। उसका प्रेम जैसे भीतर से एक साथ ही गम्भीर और वेदनामय हो आया। मन की साध बुझ-सी गई और रस की चाह कुण्ठित होने लगी। उसने कहा—'जल्दी आना।'

राजा वैजयन्त मुसकराये, चले गये, और फिर नहीं लौटे।

आखेट-रक्षक ने कहा—'महारानी जी, महाराजा तो नहीं मिले। हमें छोड़कर घनघोर वन में जाने कहाँ चले गये।'

अंग-रक्षकों ने कहा—'महारानीजी, महाराजा का पता नहीं है।' और वे बिलख-बिलखकर रोने लगे।

आखेट पर महाराज के साथ गये हुए सब संगी-साथियों ने आकर कहा—'महारानीजी, महाराज हमारे सबके देखते-देखते आँखों से ओझल हो गये। हम लोग खोज-खोजकर हार गये हैं। उनका कोई पता नहीं मिलता।'

प्रहरी ने कहा—'राज-मन्त्री पधारे हैं।'

राज-मन्त्री ने आकर कहा—'महारानीजी, महाराज न-जाने कहाँ प्रयाण कर गये हैं। प्रजा की आप माता हैं। प्रजा उद्विग्न है। बाहर आकर तनिक उसे सम्बोधन दीजिए। राजमुकुट स्वीकार करके प्रजा को सान्त्वना दीजिए। महारानीजी के मुकुटाभिषेक के महोत्सव के लिए बसन्त-चतुर्थी की तिथि नियुक्त करने के विषय में महारानी की क्या आज्ञा है?'

महामाया को शोक से उबरने का समय भी कहाँ मिला। उन्होंने कहा—'महामात्य, क्या बसन्त-चतुर्थी की तिथि निकट नहीं है? महामात्य, रानी महामाया की इच्छा है, आप अधिक करुणावान् हों। प्रजा से कहिए, रानी महामाया पर वह भी करुणा करे। महाराजा

ही अभी महाराजा हैं। उनकी खोज को छोड़ने की कभी आवश्यकता न समझिए। महामाया की इच्छा है कि उसका मुकुटाभिषेक न हो।'

महामात्य ने कहा—'महारानीजी प्रजा की माता हैं। उनके दुःख में प्रजा पीड़ित है। प्रजा चाहती है, महारानीजी स्वयं मूर्धन्य पर राजमुकुट धारण करें और प्रजा को इस सुख-दर्शन का लाभ दें। प्रजावत्सल महाराज की रानी महामाया से प्रजा-जन अपना यह स्वत्व माँगते हैं।'

महामाया ने कहा—'सचिव, महामाया प्रजा-जन की ही है। किन्तु कहो, वे धैर्य रखें। वे ऐसा चाहेंगे, तो सचिव यह भी होगा। किन्तु रानी महामाया पर अकरुण होना उन्हें नहीं शोभा देता।'

मन्त्री ने कहा—'बसन्त-चतुर्थी को महारानीजी के पुण्य-दर्शन की जनता में बहुत आशा बँध चुकी है। ऐसी अवस्था में क्या महारानी की इच्छा है कि प्रजा निराश की जाय ?'

रानी—'मुझे दुःख है—'

मन्त्री—'प्रजा का आशीर्वाद महारानी को सुखी करे।'

रानी—'नहीं, नहीं, महामात्य !'

मन्त्री—'सहस्राधिक प्रजाजन महल के बाहर खड़े हैं। वे अपने उल्लास के सम्बन्ध में महारानी की अनुमति की प्रतीक्षा में हैं।'

रानी—'महामात्य !'

मन्त्री—'महारानी !'

रानी—'मन्त्रिश्रेष्ठ, प्रजा अपनी महारानी को क्या अपना सुख-दुःख समझने की स्वाधीनता नहीं देगी ? क्या वैसी फुरसत अपनी रानी महामाया को प्रजा नहीं रहने देगी ? मन्त्री, कहो, प्रजा रानी को क्षमा कर दे।'

मन्त्री—'क्या महारानी अपने जयघोष का नाद सुनती हैं? प्रजा महारानी जी की इच्छा जोह रही है।'

(महारानी का मस्तक हाथों में है, बाल फैले हैं, विषाद में डूबी है)

रानी—'ओह!'

मन्त्री—'महारानी महामाया!'

रानी—(सावधान होकर) 'क्या प्रजा सहेगी कि उनकी रानी रानी न होकर उनकी गुलाम हो? मन्त्री, क्या प्रजा में यह सामर्थ्य है? इतनी इच्छा है?'

मन्त्री—(विस्मित) 'महारानी!'

रानी—(उत्तिष्ठ) 'प्रजा के लिए रानी महामाया प्रजा-वत्सल होगी। वही महामाया प्रजा की आज्ञानुवर्तिनी होकर, मन्त्री, मुझे शंका है, प्रजा के लिए असह्य न हो जाय। महामात्य, प्रजा से कहो, करुणा श्रेष्ठ है, आनन्दोत्सुकता श्रेष्ठ नहीं।'

मन्त्री—(विमूढ़) 'महारानी!'

रानी—(तत्पर) 'मन्त्री, महाराजा वजयन्त से प्रजा विस्मृति चाहती है? स्मृति से छुट्टी चाहती है? उनका अभाव मान लेकर उनके सिंहासन पर नये प्राणी को चाहती है? वह अत्यन्त समुत्सुक है? महाराजा के लोप हो जाने पर अत्यन्त विश्वस्त है? महामात्य, क्या प्रजा सिंहासन पर कोई खिलौना अवश्य चाहती है? क्या अपने दुःख के कोष को लुटा कर महामाया को यह बनना होगा? प्रजा असंख्य है, क्या इसी से वह दया-धर्म से मुक्त होगी? क्या इसी से उसकी माँग अनुल्लंघनीय होगी? क्या प्रजा प्रजा है, इसी से उसकी इच्छा मेरे लिए आज्ञा बनेगी? मन्त्री, कहो, रानी होने का क्या यह दण्ड है? कहो, क्या वही सुनाने तुम यहाँ

आये हो ? कहो, क्या यही तुम कहते हो कि इससे बचने का मार्ग नहीं है ?'

मन्त्री—(गतबोध) 'महारानी !'

रानी—(साग्रह) 'महामात्य, बोलो ।'

मन्त्री—(अवश) 'मेरा आग्रह क्षम्य हो, महारानी ! रानी महामाया की इच्छा ही मेरा व्रत हो।'

रानी—(दृढ़) 'तो प्रजाजन से कहो, महामात्य, वसन्त-चतुर्थी को राज्याभिषेकोत्सव होगा। वे सन्तुष्ट हों, प्रस्तुत हों। महामाया को सिर पर मकुट लेना होगा, तो वह उसे सिर पर लेगी, पीछे न होगी।....हे राम !'

मन्त्री—(कातर) 'महारानी !'

रानी—'अमात्य, तुम जाओ। रानी को अपने दुःख-भोग का अवकाश नहीं ही है, तो न हो। उसे नहीं स्वाधीनता है, तो सुनो, अमात्य वह राज्य करेगी। राज्य सावधान हो जावे।'

मन्त्री—(भयभीत) 'महारानी !'

रानी—(आविष्ट) 'जो अनिवार्य है, हो। विधाता की इच्छा। संकट का क्या यह भी उपयोग करने का अवकाश व्यक्ति को न होगा कि वह उसे झेले, झेलकर चैतन्य बने, भक्त बने, दीन बने ? क्या रानी व्यक्ति नहीं हैं ? क्या रानी नारी नहीं है ? किन्तु महामात्य, तुम निश्चिन्त जाओ, कह दो, वसन्त-चतुर्थी को महामाया राजमुकुट लेगी। महाराजा, उसके स्वामी, कहाँ गये है, अगर प्रजा यह जानने और पाने को चिन्तित नहीं है, तो महामाया भी यह जानने और पूछने को उत्सुक नहीं दीखेगी। वह बनेगी रानी। सुनते हो, महामात्य ? जाओ और कह दो।'

मन्त्री—(हाथ जोड़कर) 'महारानी जी से सेवक क्षमा माँगता

है। प्रजा को समझा दिया जायगा। सेवक एक मार्ग देखता है। महारानी महामाया अपने भाई के पुत्र वसन्तद्युति को दत्तक स्वीकार करके क्या राज्यासन पर आसीन करने में सम्मत होंगी?'

रानी—'नहीं, अमात्य! महामाया अबला क्यों होगी? और राज्यासन खाली क्यों होगा? महाराजा का पुत्र नहीं है, किन्तु महाराजा की निष्पुत्रा रानी महामाया तो है। वह सब सहेगी। महाराज वैजयन्त का सिंहासन किसी के आगे प्रार्थी नहीं बनेगा।...देखो, बाहर एकत्रित जनता महाराजा के अभाव पर कैसी मतवाली हो रही है। उनके कंठ का अंकुश जैसे उठ गया हो। अरे, क्यों वह महामाया के कान फोड़ना चाहती है? जाओ अमात्य, उन्हें सुनाओ, अपने गलों को वे शान्ति दें। अबला महामाया वसन्त-चतुर्थी को राज्य की रानी बनेगी।'

(मन्त्री का प्रस्थान)

* * *

इस प्रकार हेमवन्त द्वीप की रानी होकर महारानी महामाया राज्य करती थीं। दिन में राज-मुकुट पहन कर राज-सभा में राज-तन्त्र चलाती थीं। रात में आकाश के तारों को गिनती हुई जागती थीं, जौर उन्हें गिनती-गिनती ही सो जाती थीं। महाराजा वैजयन्त का कहीं पता न चला था।

महारानी के शासन की निर्ममता से प्रजा त्रस्त हो गई। महारानी के हाथ से न्याय जब कि सहज-प्राप्त था, दया सर्वथा दुष्प्राप्य थी। अपराधी को दंड ही मिलता था। क्षमा की कहीं व्यवस्था न थी। दया स्वयं अपराधी थी, और राज्य के न्यायाधीशों में कोमलता दुर्गुण समझी जाती थी। महारानी महामाया की कड़ी आज्ञा थी कि महाराजा वैजयन्त के समय के नियमों का निरपवाद

और अक्षरशः पालन हो। छूट कहीं न हो, बचाव कहीं न हो। अतिशय तत्पर कर्मठ तेजस्विनी बनी महारानी महामाया स्वयं राज-सभा में उपस्थित होकर कठोरता-पूर्वक शासन का संचालन करतीं थीं। आर्त्त की पुकार के प्रति वह परमात्मा की तरह अदय हो रहती थीं। आर्त्त क्यों आर्त्त है ? और जब वह आर्त्त है, तो क्यों साहस करता है, क्यों आशा करता है कि अपने आर्त्तनाद से अनुशासन के पद-चाप पर बाधा डाले ? क्या जगत्तन्त्र उसकी चीख-पुकार पर रुके ? सहमे ?

और, रात के सन्नाटे में महामाया आकाश के महारहस्य को सूनी आँखों से देखती थी, और देखती रहती थी। उसके भीतर से भरी साँस उठती आती और छूट कर खो जाती। यज्ञ में प्रदीप्त अग्नि-शिखा की भाँति, अँधेरी और उज्ज्वल, वह प्रश्वास सतत ऊपर की ओर विलीन होती हुई इस आकाश में रमे राम के चरणों में फूट-फूट कर सुबकेगी—'ओ, मेरे राम ! मैं अकेली क्यों ? बता वह कहाँ है ? कहाँ है ?' गर्मी की रातों में, दूर, काले-से दीखते वन-प्रान्तर को देखती हुई और दूसरी ओर से समुद्र से आती हुई गर्जना को सुनती हुई इन सबसे ऊपर होकर, मानो अपने प्रश्न से वह समस्त रिक्त को गुँजा डालना चाहती है—'ओरे तू कहाँ है ? कहाँ है ?' यह प्रश्न आकण्ठ उसमें भर-भर आता है, 'तू कहाँ है ? कहाँ है ?' पर वाणी फूटती नहीं। और वह वेदना भीतर ही घुमड़-घुमड़कर नीरव भाव से पूछती रह जाती है—'ओरे, तू कब आएगा ? कब आएगा ?' पूछती ही रह जाती है, उत्तर कहीं से भी नहीं पाती। आसमान के चन्दोवे में कोई सिहरन नहीं होती। तारे चमकते ही रहते हैं। सन्नाटा सुनसान ही रहता है। तब दीनाति-दीना बनी महारानी महामाया की आँखों से आँसू झर-झर झरते

हैं। वे आँसू भरते ही आते हैं। वे आते-जाते हैं, टपकते जाते हैं और गिरकर सूखते जाते हैं। और, फिर भी तो मन के भीतर और इस शून्य की गोद में कोई उत्तर ध्वनित नहीं होता कि वे कब आएँगे। वह राह देखती है और देखती रहती है। वह जागती है और जागती रहती है। फिर हार भी जाती है और सो जाती है।

यों रात ढल जाती है, और उद्यत उजला दिन आ जाता है। रात को लोग स्वप्न लें; पर दिन में काम है। रात में राजा पुरुष है और चाकर भी पुरुष है। रात में रानी नारी है और दासी भी नारी ही है। पर दिन, रात नहीं है। दिन में राजा राजा है, चाकर चाकर। रानी रानी है और दासी मात्र दासी।

इससे, दिन जब चढ़ता है, रात की भूल से उठकर दुनिया जब अपने आपे में होती है, उस समय महारानी महामाया भी राज-सिंहासन के ऊपर और राज-मुकुट के नीचे शासन-तन्त्र के निर्वाह में कटिबद्ध बन आती हैं।

* * *

ऐसे ही वर्ष पर वर्ष बीत गये हैं। यौवन परिपक्व होता गया है और रातें आँसुओं से भीगती बीती हैं। राज्य में अखण्ड शासन-चक्र चलता रहा है, निर्विघ्न अनवरत और अलिप्त। पर, यौवन अब ढला चाहता है। महामाया को उत्तर नहीं प्राप्त हुआ है कि वे कब आवेंगे। अपने प्रश्न को अपने चारों ओर ध्वनित करती हुई, निस्पन्द रात्रि में, उत्तरापेक्षिणी वह सदा ही बैठा की है; उत्तर की भनक उसे कहीं से भी नहीं पड़ी है। अब जब बिछोह पक गया है, वह कहती है—'अरे, अब तो बोलो, तुम कब आओगे ?' और जब भी उत्तर नहीं पाती, तो सोच उठती है—अभी आकांक्षा का ढलना कुछ और शेष है शायद। जब आकांक्षा ढलकर निःशेष हो

जायगी, तभी शायद प्रियतम का आना होगा। तब फिर अपने को देखकर सोचती है—'अरे, यह यौवन क्यों नहीं और जल्दी-जल्दी मुझ पर से ढल कर चला जाता है कि प्रभु मिलें!'

* * *

इधर राज्य में षड्यन्त्र बन चले हैं। यह महामाया रानी बन कर यों निरंकुशा रहेगी? अत्याचार क्या यों ही होते रहेंगे? दैन्य क्या अपमानित ही होगा? भूखों की चीख क्या कलपती ही जायगी, वह सुनी न जायगी? यह महामाया कौन है? इसके पास रानी का कोई पट्टा लिखा हुआ नहीं है। यह स्त्री है कि राक्षसी है! हेमवन्त द्वीप को इससे मुक्त करना होगा। गुप्त समितियाँ बनने लगीं और गुप्त मन्त्रणाओं ने बल पकड़ा। युवक आदर्श सीखने और सिखाने लगे। बलिदान का महत्त्व आविष्कृत हुआ।

और, रात में जब अबला महामाया धरती पर बिछी चटाई पर लोट-लोटकर समुद्र का गर्जन सुनती, वन-प्रान्त की अँधियारी रेखा के इंगित को बूझती और असंख्य तारों को ताकती हुई, अपने निष्फल यौवन का विसर्जन देती हुई, अकेली, अरक्षणीया, पूछती होती थी—'अरे, तुम कह दो, मैं कब तुम्हारे पास आऊँगी। तुम बहुत दूर हो, तब मैं ही चलती हुई, कहो किस राह से तुम तक आ जाऊँ?' उस समय राज्य के कुछ अधिकारीगण कोठरी में दिया-बत्ती जलाकर इकट्ठे मन्त्रणा करते होते थे कि निरंकुश सम्राज्ञी बनी अत्याचारिणी महामाया के भार से कैसे अपने सुन्दर राष्ट्र हेमवन्त को मुक्त करना होगा? वे लोग हेमवन्त के मान-चित्र को नमस्कार करके एक-एककर शपथ खाते थे कि वे उत्सर्ग से पीछे न हटेंगे, राष्ट्र को नृशंसता से मुक्त करेंगे। वे लोग संकल्प से भरे, धर्म-भावना से उद्धत, उत्सर्ग को उत्सुक, उस समय अपने राज-

नीतिक कर्त्तव्यों को परस्परापेक्षा से ज्वलन्त और निर्दिष्ट और धारदार बनाया करते थे।

* * *

'महामात्य ने आकर कहा—'महारानी, प्रजा में विद्रोहियों का प्रभाव बढ़ता जाता है। आज्ञा दीजिए, विद्रोहियों के सम्बन्ध में अधिक शोध की जा सके। उस ओर अब अत्यधिक सतर्कता भी कम हो सकती है। महारानी, आज्ञा दीजिए, मैं कानून...'

रानी—महामात्य, कानून का पालन करो। उसका अक्षर-अक्षर पालन हो। ममता अन्याय है। लेकिन कानून में जिन्हें शंका है, उसमें परिवर्तन जिनका लक्ष्य है, राजनीतिक जिनकी प्रेरणा है, उनका दमन न होगा। विद्रोहियों का प्रभाव बढ़े, लेकिन साधारण न्याय से अधिक कोई अधिकार, कोई अस्त्र मैं तुमको न दूँगी। और तुम जानते हो, मेरे दिन अधिक शेष नहीं भी हो सकते हैं।'

मन्त्री—'महारानी, षड्यन्त्र घर से बहुत दूर नहीं है। आपकी ही रक्षा का हाथ उन्हें विनाश से बचाये हैं। महारानी, षड्यन्त्र का विस्फोट भयंकर हो सकता है।'

रानी (सस्मित)—'रानी के जीवन से तुम्हें प्रेम है? रानी के पास उस प्रेम का हेतु नहीं है।'

मन्त्री—'महारानी!'

रानी—'अपने जीवन का एक भी दिन कम करने की इच्छा करने का वश मेरा नहीं है। जीते ही चलना होगा। तब तक, जब तक प्रार्थना स्वीकृत हो। षड्यन्त्रकारी भीरु हैं, किन्तु भीरुता तो कानून में दण्डनीय नहीं है। षड्यन्त्र का उद्देश्य कौन जाने कहाँ तक पवित्र है! किन्तु हम तुम कितने पवित्र हैं? शासन-तन्त्र को संस्कार देने का संकल्प तो दण्डित नहीं हो सकेगा। और जो मेरी

मुक्ति के इच्छुक हैं, वे अगर कानून की पकड़ में आते भी हैं, तो कानून को मेरा अधिनायकत्व इस अंश में स्वीकार करना होगा कि मैं उन्हें अदण्डनीय ठहराऊँ। क्योंकि प्रश्न मेरी जान का है। मेरी सम्पत्ति मेरी जान है और उसे लेने वाला मेरी इच्छा के विरुद्ध दण्डित नहीं किया जा सकेगा।'

मन्त्री—'महारानी, कुछ अतिसांघातिक सूचनाएँ मैंने पाई हैं। लिखित प्रमाण मेरे पास हैं। (काग़ज़ों का एक बड़ा पुलिन्दा देते हुए) महारानी, आप इन्हें देखें। आपके अतिविश्वासी लोग आपके शत्रु हैं।'

रानी—(काग़ज़ों को स्थिरता के साथ फाड़ते हुए) 'अमात्य, मेरे विषय में इतने चिन्तित न बनो। क्रान्ति से षड्यन्त्रकारी क्यों डरते हैं, यही मुझे आश्चर्य है। क्या तुम महामात्य, दिखाना चाहते हो कि तुम भी डरते हो ? भय संहार का हेतु है। निर्भय रहने से संहार की आवश्यकता निःशेष होगी। महामात्य, मुझे दीखता है, षड्यन्त्रकारियों की भीरुता कुछ बलि लेगी। महामात्य, उन बेचारे षड्यन्त्रकारियों को क्या किसी प्रकार निर्भीक नहीं बनाया जा सकता ?'

मन्त्री—'महारानी !'

रानी—'मुझे क्यों न न्यायाधीश के समक्ष लाने की वे माँग करें ? यह क्यों नहीं समझा जा सकता कि रानी होकर महामाया नारी है ? कि वह एक व्यक्ति है कि रानी होकर किसी कानून से वह छूटी नहीं है। ईश्वर का कानून अमोघ है, अनिवार्य है। महामात्य, इस जानकारी को सर्वप्राप्य बनाओ।'

मन्त्री—'मैं महारानी जी की सेवा में चेतावनी देने आया था। महारानी उसे लेना अस्वीकार करती हैं। महारानी ने मेरे कर्तव्य

की भी मर्यादा बाँध दी है। यदि राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने वालों को महामात्य व्यर्थ नहीं कर सकता, तो वह महामात्य किस लिए है ? महारानी की रक्षा नहीं कर सकता, तो सेवक किस लिए है ? मैं महारानी का अमात्य होकर नहीं सह सकता कि महारानी के अनिष्ट को न रोक सकूँ । उस अनिष्ट के मार्ग में अवरोधक न बनना, महारानी, सहायक बनना है। महारानी इसलिए मुझे अपने पद से मुक्त होने दें।'

रानी—'महामात्य !'

मन्त्री—'महारानी !'

रानी—'अमात्य, तुम इस समय छुट्टी चाहते हो ? क्या मैं कहूँ—'अच्छा ?' क्या मैं महाराज वैजयन्त की तुम्हें याद दिलाऊँ, जिनके मात्र उत्तराधिकारी बने हम यहाँ बैठे हैं ? क्या मेरे दिन भी अब बहुत बचे हैं ? फिर भी तुम छुट्टी चाहते हो—तो—'

मन्त्री—'महारानी !'

रानी—'महामात्य, जाओ, मेरी चिन्ता न करो। इन काग़ज़ों की भी चिन्ता न करो, ये जल जायँगे। षड्यन्त्रकारियों की ख़बर रखो; पर यदि प्रजा की हानि नहीं करते, तो उनकी स्वतन्त्रता पर तनिक विकार न लाया जा सकेगा। महामात्य यों हम-तुम सबको क्या अनन्त काल तक जीना है ?'

मन्त्री—'महारानी !'

(रानी ने जाने का संकेत किया। महामात्य चले गये।)

एक रोज महामाया ने मुट्ठी में पकड़े अपने केशों में देखा कि केश उसके सफेद भी हो गये हैं। उसे प्रसन्नता हुई। उसने महामात्य को बुलाकर कहा—'महामात्य, मैं आज तुम्हें एक प्रसन्नता की सूचना देना चाहती हूँ। रानी महामाया के प्रयाण का समय

अब निकट आया है। मैं कहना चाहती हूँ कि मैं चुपचाप जाना चाहती हूँ। रक्तपात नहीं चाहती।'

उस रात्रि को महामाया अत्यन्त कातर हो-होकर पुकारने लगी—'ओजी, बताओ, तुम्हें कब मैं पाऊँगी? मैं कब तुम्हारे पास आ जाऊँगी? अरे, बताओ।'

बहुत देर और बहुत आँसुओं के बाद मानो कहीं अत्यन्त पास ही से उत्तर मिला—'महामाया, धैर्य का पुरस्कार तुम्हें मिलेगा। मैं कहीं दूर नहीं हूँ, प्रियतमे!'

* * *

अगले प्रातःकाल नगर-भर में लाल-लाल अक्षरों में पत्रक चिपके हुए मिले, जिनमें लिखा था कि राज्य के मद में मत्त हुई रानी महामाया का अन्तकाल निकट है। प्रजा को जागृत होना चाहिए, उत्तिष्ठ होना चाहिए। सत्य की ही सदा जय होगी, अत्याचारी को नीचा देखना होगा। प्रजाजन उठो, बलि होओ। पर, अपना स्वत्व प्राप्त करो।....आदि।

महामात्य ने महारानी की सेवा में उस पत्रक की प्रति प्रस्तुत करते हुए निवेदन किया—'देखिए, महारानी जी, आपकी क्षमा का परिणाम यह है!'

महारानी ने पत्रक को एक निगाह देख लिया और ईषत् स्मित के साथ कहा—'महामात्य, मैं किस दिन के लिए जी रही हूँ? क्या जाने के दिन के लिए ही नहीं? मुझे रात ही अपनी प्रार्थना की स्वीकृति मिल चुकी है। प्रभात में रक्ताक्षरों से अङ्कित उसका प्रमाण तुमने मुझे ला दिया है, तब तो मैं रात की बात को चाह कर भी स्वप्न नहीं समझ सकती।'

महासात्य—'महामाया रानी !'

रानी—'अमात्य, प्रबन्ध यह करो कि रक्तपात न हो।'

मन्त्री—'क्या प्रबन्ध करना होगा, माता ?'

रानी—'क्या प्रबन्ध ? घोषणा कर दो कि चौबीस प्रहर के भीतर राज्यवासी सोच देखें, वे क्या चाहते हैं। उस समय के भीतर सब स्वतन्त्रता उन्हें है। उसके बाद रानी महामाया रानी नहीं रहेगी शासन का जो तन्त्र बनेगा, रानी उसके हाथ में होगी, उसके न्याय के समक्ष होगी। प्रजा आत्म-निर्णय करे। रानी को चौबीस प्रहर बीतने के बाद वह किसी भी प्रकार रानी नहीं पा सकेगी।'

मन्त्री—'माता महामाया !'

रानी—'मैं जानती हूँ, अमात्य। रात मैंने उत्तर पा लिया है। तुम जाओ। अपनी सेना को प्रस्तुत रखो। उसकी आवश्यकता हो सकती है। रानी को रानी चाहने वाले लोग उत्पात करें, तो उनका दमन करना होगा। रक्त गिरे ही, तो अपनों का ही गिरे, अमात्य। प्रेम का यही मार्ग है।'

और विह्वल, अवश, महामात्य को महामाया ने उसके कर्त्तव्य की ओर भेज ही दिया।

*　　　*　　　*

उपसंहार

महामाया ने प्रबन्ध किया कि षड्यन्त्रकारियों की भीरुता नष्ट हो। वे निर्भीक बन कर सामने आवें। अपने अन्तर्हित हो जाने की बात उसने नहीं सोची। प्रत्युत षड्यन्त्रकारियों के हाथों स्वयं दण्डित होने की अनिवार्यता उसने उपस्थित की। उसने व्यवस्था

की कि सार्वजनिक वधस्थल पर जाकर उसका सिर उतारा जाय। इस प्रकार रानी महामाया की मुक्ति हुई!*

---

* उपसंहार लाचारी का परिणाम है, क्योंकि कहानी बड़ी बहुत न होनी चाहिए। सम्भव है कि उपसंहार की कहानी और भी कभी लिखी जाय।

—लेखक

कोई माफ करना यह पुस्तक मेरे बस का रोग नहीं। —कुंवर प्रधान

जनता

बाबा भगीरथ जी विचित्र पुरुष हैं। मन में आया, वैसे ही रहते हैं। अपने से बाहर भी कुछ है, जिसका असर व्यक्ति पर होना चाहिए, इसकी सूचना मानों उन्हें प्राप्त नहीं है। समाज अगर कुछ है, तो ठीक है, हो, हो, सरकार अगर कुछ है, तो अवश्य हो, किन्तु इस कारण उनके मन को कष्ट न हो, इसका पता वह रक्खेंगे। यही क्यों, उनसे भरसक सबको आराम पहुँचे इसका भी ख्याल वह रक्खेंगे। और बस। इसके आगे उनके नज़दीक दुनिया जैसी है, वैसी ही नहीं है।

मैं कहता हूँ, यह ठीक नहीं है। दुनिया है, और इस में निभकर चलना पहली बात है। इससे बाहर जाकर तो गुज़ारा नहीं। इससे अगर विद्रोह भी करना हो, तो उससे मिलकर ही हो सकेगा। दुनिया से अजीब, अलग, रूठे हुए बनने से काम नहीं चलेगा। कुछ लोग हैं, जो दाढ़ी रखते हैं, और कुछ लोग हैं जो डाढ़ी नहीं रखते। अपना तरीका तरीका है। जो दाढ़ी रखते हैं, वे रखने के तरीके से रखते हैं।

उन्हें मालूम होता है कि यह डाढ़ी है, कोई झाड़ी नहीं है, जिसके न कुछ अर्थ हैं, न प्रयोजन। और डाढ़ी नहीं रखते तो शेव किया कीजिए। और, कपड़ों में पतलून है, पाजामा है, धोती है, कुर्ता, कमीज़, कोट, वास्कट हैं। अब, न डाढ़ी रखना और कपड़ों में ऊपर गिनाई चीजों को छोड़कर कोई अपनी ही ईजाद करके पहनना, और सोलह में पन्द्रह आने उघारे बदन ही रहना···मैं कहता हूँ, यह भी कुछ समझदारी है? लेकिन बाबा भगीरथ पर किसी का बस चले, तो बाबा भगीरथ कैसे।

मैंने एक दिन कहा—'देखिए बाबा जी! आदमी जो समझता है, ठीक है, उसे फिर उसके साथ कसकर देखना—होगा, जिसे दुनिया समझती है, ठीक है। उनके समन्वय से जो मिले, वही तो व्यक्ति का मार्ग है। क्योंकि आदमी अपने में पूरा कहाँ है? पूर्ण होने के लिए उसे समाज की अपेक्षा नहीं है क्या?'

बात यह है कि मैं अपने मन के ऊपर से बाबा जी को टालना चाहता हूँ! मन उनपर जाकर कुछ सुख नहीं पाता। उसमें कुछ विद्रोह, एक बेचैनी-सी होती है बाबा को देखकर जी में होता है कि तेरी प्रतिष्ठा, तेरी दुनियादारी, तेरी कामयाबी जूठी है, झूठ है, छल है। चाहता हूँ, बाबा पर दया कर डालूँ, और इस तरह अपने बड़प्पन को स्थिर रक्खूँ, सम्भाले रक्खूँ। पर यह होते होता नहीं। बाबा को सामने पाकर बड़प्पन हठात् मुझपर से खिसकने लगता है, उतरकर जैसे मुझे छोड़ जाने को उतारू हो जाता है। तब उस बाबा और उसकी सारी फ़िलासफ़ी पर मुझे बड़ा गुस्सा आता है। लेकिन कभी वह साढ़े तीन सौ मासिक पाता था, मेरा सीनियर था, गण्य-मान्य था। और, आज है कि मैं चार सौ पाता हूँ, और उसे ठौर का ठिकाना नहीं है, और मित्रों का कृपानुजीवी ही,

समझिए, बनकर उसे रहना होता है। उसे मैं पागल कह सकूँ, बैरागी कह सकूँ, साधु-सन्यासी कह सकूँ, तो मुझे चैन पड़ जाय। क्योंकि समाज की रीति-नीति में इन लोगों के लिए जगह है, समाज इन्हें पहचान सकता है। कहा, पागल है, और चलो छुट्टी हुई। इस बाबा से, लेकिन इस तरह की छुट्टी मुझे किसी भाँति नहीं मिलती। और वह सदा इतना खुश और इतना पक्का और इतना ताज़ा रहता है कि मन-मन में मैं कितना ही झुँझलाऊँ, उसके प्रति एक प्रकार की श्रद्धा से भी मुझ से बचा नहीं जाता।

बाबा ने कहा—'देखो भाई, समाज से मैं इन्कार नहीं करता। जिसको मैं सही कहूँ, मन हो, तो क्यों न समाज उसे ग़लत माने स्वतन्त्रता चाहने वाला मैं समाज को तो और भी स्वतन्त्रता दूँगा। मैं तो कहता हूँ, जिसको मैं अपने लिए सही समझूँ, उसी को समाज मेरे लिए निषिद्ध ठहरा सकता है। मैं यदि अपने समर्थन में उसका विरोध करूँ, तो उसका धर्म है कि अपने समर्थन में वह मेरा विरोध करे। यहाँ तक कि मैं चुप हो जाऊँ, नहीं तो मिट जाऊँ। समाज ने ईसा को सूली चढ़ाकर समाज-धर्म की प्रतिष्ठा ही की। किंतु ईसा को यदि ईसा बनना था, सूली पर भी चढ़ना था। समाज को समाज रहने के लिए, उसी तरह, ईसा को, जो ईसा बने बिना मानता न था, सूली दिये बिना न रहना था। सूली चढ़ने वाला ईसा समाज के इस दायित्व को जानता था। इसी से अपने कन्धों सलीब लेकर वह वधस्थल गया। कोई अड़चन उसने बधिकों के काम में नहीं उपस्थित की। अब, मैं यह कहता हूँ कि अपने ऊपर समाज को पूर्ण स्वतन्त्रता देकर क्या अपनी नियति को अपने ही रूप में सम्पन्न करने का अधिकार ईसा का नहीं हो जाता? समाज के हाथों जब वह खुशी से सूली चढ़ने को उद्यत है, तब ईसा ईसा बने

बिना किस भाँति रह सकता है ? इसलिए, व्यक्ति अपने लिए, समाज की ओर नहीं भी देख सकता है; बल्कि नहीं देखना चाहिए, अगर उसमें समाज के दण्ड से बचने की इच्छा नहीं है, और वह समाज का हितैषी ही बना रहकर उसके दण्ड का स्वागत कर सकता है। अगर दुनिया मुझे पागल कहेगी तब भी मैं उसका बुरा न सोचूँगा, मुझे पीड़ा देगी, तब भी उसकी कल्याण-कामना करूँगा—यह मानने के बाद क्या अपने मुताबिक चलने का हक़ मेरा न मानोगे ?'

देखा आपने ! यह बाबा भगीरथ हैं। इस बाबा भगीरथ को, आप समझते हैं, कभी जीवन में आराम मिल सकेगा, सफलता मिल सकेगी ? क्या नहीं समझते कि उमर-भर उसे मोहताज और अवारा ही रहना होगा ?

और आइए, मैं आपको सुनाऊँ बाबा के बाबापन का एक रोज क्या गुल खिला। किस्मत समझिए कि बाबा मौत से बाल-बाल बच गया, नहीं तो विधना की ओर से तैयारी में कमी रखी गई न थी।

और आप जानते हैं, क्या ? उसके बाद भी बाबा को होश नहीं हुआ है, और वह वही है।

* * *

मास्टर दीनानाथ जी की ग्यारह बरस की लड़की सुखदा को पाँच-छह रोज से उनके घर आये बाबा भगीरथ जी से एक भेद की ख़बर मिली है, जिसने उसके चित्त को विभ्रम में डाल दिया है। बाबा ने उसे बताया है कि रामजी ने उसे एक जामन के पेड़ के नीचे डाल दिया था। वहाँ वह कीं-कीं-कीं खूब रो रही थी। दया करके बाबा ने वहाँ उसे उठा लिया, और यहाँ आकर फिर उसकी माँ को पालने को दे दिया। समझी कि नहीं ? चाहे तो अपनी माँ

से पूछ ले कि तू कहाँ से आई थी। बाबा ही दे गया था कि नहीं।

लड़की ने कहा—'नहीं-नहीं-नहीं। झूठ, बिल्कुल झूठ।'

और तभी वह सोचने लगी कि जामन के पेड़ तले पड़ी वह नन्हीं-सी कैसी लगती होगी।

भगीरथ जी ने कहा—'इसमें क्या बात है। जाकर अपनी माँ से पूछ आओ।'

माँ से पूछा, तो उसने भी बता दिया कि हाँ, ठीक तो है, पेड़ के नीचे ही तो भगीरथ जी ने उसे पाया था।

लड़की ने आँख फाड़कर पूछा—'अच्छा!'

माँ ने पूछा—'तो तू बाबा जी के संग जायगी?'

बेटी ने कहा—'हाँ, बाबा जी के संग जाऊँगी। तू तो मुझे मारती है।'

इस तरह, और जाने किस-किस तरह, बालकों को रिझा और हिला लेने में भगीरथ जी-सा दूसरा आदमी न होगा। सुखदा बाबूजी और माँ को भूलकर सदा बाबाजी के ही सिर चढ़ी रहती है। या उसके सिर कहो 'बाबाजी' चढ़े रहते हैं।

मास्टर दीनानाथजी से उन्होंने कहा—'देखो मास्टरजी, यह इस्कूल-बिस्कूल ग़लत बात है। जब तक हम रहें, लड़की किसी स्कूल में पढ़ने नहीं जायगी। और, सबसे बड़ी शिक्षा खुली हवा में घुमाना है। आप छोड़िए सुखदा को मेरे ऊपर। अभी तो एक महीने मैं यहाँ हूँ।'

सो, लड़की अब स्कूल नहीं जाती, सुबह-दोपहर-शाम जाने कहाँ-कहाँ बाबाजी के साथ नई-नई चीज़ें देखने जाती है। एक-दो घण्टे बाबाजी ही उसे पढ़ा भी देते हैं।

जाड़ों के दिन थे। दस बजे होंगे। मीठी-मीठी धूप फैली थी।

और निकल्सन बाग में घास पर बैठे बाबा भगीरथजी और सुखदाजी बातें कर रहे थे। और, उस बाग के बाहर भी दो-तीन आदमी घूम रहे थे।

यहाँ एक बात ख़याल रखनी चाहिए। सुखदा सुन्दर है, गोरी है, देखने से ही अच्छे घर की मालूम होती है। अच्छी, साफ़ साड़ी है, पैरों में बढ़िया चप्पल। भगीरथजी नंगे पैर हैं, जिनमें बिवाइयाँ फट रही हैं, उघारे बदन, बस एक मटमैले रंग का जाँघिया है। छः महीने की दाढ़ी है। रंग धूप से पका ताँबिया।

सुखदा ने पूछा—'बाबाजी, यह चौराहों पर आदमी क्यों खड़े रहते हैं?'

'अच्छा, बताओ, इस चौराहे पर जो खड़ा था, कौन था?'

लड़की ने बताया—'सिपाही।'

भगीरथजी ने कहा—'हाँ, सिपाही है। जानती हो, क्यों रहता है? आते-जाते ताँगे-मोटरों को वह रास्ता बताता है, नहीं तो वे लड़ जायँ। इनका नाम पुलिस है। ये पुलिस के सिपाही हैं। इनसे डरना नहीं चाहिए। समझीं? ये लोगों को मदद देने के लिए हैं। तुम डरती तो नहीं?'

'नहीं।'

'हाँ, डरना कभी नहीं चाहिए। अच्छा, धोती यहीं उतार आओ। जाँघिया तो है न? जाओ, जितनी तरह की कल घास बताई थी ढूँढ़कर उनके नमूने लाओ तो।'

लड़की चली गई। इतने में एक आदमी आया। आकर पूछने लगा—'आप कहाँ रहते हैं?'

'हम कहाँ रहते हैं? यहीं रहते हैं।'

'यहीं क्या, देहली में? किस महल्ले में?'

बाबाजी ने कहा—'क्यों, तुमको मेरे मुहल्ले से ख़ास काम है ?'

आदमी ने कहा—'हिन्दू हो या मुसलमान ?'

बाबाजी को यह बड़ा विचित्र लगा। कहा—'भाई, हम जो हैं, हैं। जहाँ रहते हैं, रहते हैं। तुम जाओ अपना काम देखो।'

इतने में लड़की आ गई, और एक अजनबी को देखकर मन-मारी वहाँ बैठ गई। बाबाजी ने पूछा—'क्यों, बेटी ?'

आदमी ने पूछा—'यह लड़की कौन है ?'

बाबाजी को इस आदमी का यह सवाल बहुत बुरा मालूम हुआ। कहा—'तुमको इससे मतलब ? जाओ, अपना रास्ता देखो।'

आदमी चला गया, और लड़की ने घास दिखानी शुरू की।

इतने में एक आदमी और आया, बोला—'आप कितनी देर तक यहाँ बैठेंगे ?'

हमारी तबीयत।

'मैं पूछता हूँ, घण्टे, दो घण्टे, आखिर कितनी देर तक आप यहाँ हैं ?'

'तुम सुनते नहीं हो।' बाबाजी ने कहा—'हमारी तबीयत है, जब तक हम यहाँ हैं।'

आदमी ने कहा—'अच्छी बात है। और वह चला गया।'

बाबाजी के मन पर किसी तरह की कोई जूँ नहीं रेंगी। और देखा गया, बग़ीचे के बाहर टहलते हुए आदमियों की संख्या दो-तीन से छह-सात हो गई है। उसमें एक बावर्दी पुलिस का सिपाही भी है।

लड़की का उत्साह अकारण मन्द पड़ने लगा, और उसका जी बैठने लगा।

बाबाजी ने कहा—'देखो सुकी, मैंने छह तरह की घास तुम्हें बताई थी, और छहों इस बग़ीचे में हैं। तुम लाईं चार ही।'

लड़की ने कहा—'बाबाजी, घर चलो।'

'क्यों ?' बाबाजी की समझ में जैसे यह बात बिल्कुल नहीं आई।

'नहीं, हम तो घर चलेंगे।'

'अच्छी बात है, चलो।'

दोनों उठकर चले।

बगीचे से बाहर निकले, तो वे छहों-सातों आदमी भी पीछे-पीछे चले। अब बाबाजी ने जाना कि दाल में कुछ काला है। पर उन्हें आशंका से अधिक कुतूहल हुआ, और वे दोनों चुपचाप चलते रहे।

फ़र्लांग-भर गये होंगे कि पचास-साठ आदमी हो गये। एक बावर्दी घुड़सवार भी साथ दिखाई देने लगा। सब अपने-अपने अनुमानों से भरे थे। और पुलिस के लिए शीघ्र एक यह काम भी हो गया कि जनता के भरे सदस्यों को मर्यादा से आगे बढ़ने से थामे रहे।

'ज़रूर मुसलमान गुण्डा है। बाबा बनकर लड़कियाँ भगाता है, बदमाश !'

'मुसलमान नहीं है। है हिन्दू, पर गुण्डा है।'

'लड़की किसकी है।'

'देखते रहो, कहाँ जाता है ?'

'देखना, निकल न जाय।'

'बदमाश आज पकड़ा गया।'

पुलिस ने कहा—'पीछे रहो, पीछे रहो।'

खुशी भरी जनता घुड़सवार पुलिसमैन के पीछे बाढ़-सी बढ़ती और उमड़ती हुई चलने लगी।

'क्या है ? क्या है ?'

'देखते नहीं, सामने क्या है ?'

'ओह, यह ! पाजी—'

कृतार्थ होकर अत्यन्त उत्साह के साथ पूछने वाला भीड़ के साथ हो लिया।

'अपना नाम इसने मौलाबख़्श बताया है, पर असली ज़ैनुद्दीन यही है।'

'ज़ैनुद्दीन !'

'सौ-सौ के छह नोट इसके जाँघिए की जेब में मिले हैं'

'अब ले जाकर लड़की बेच देता। अजी इनका गिरोह है, गिरोह।'

'मुसलमान क्यों बढ़ रहे हैं ? इसी से तो।'

कौन कहता है, लड़की मुसलमान-ख़ानदान की है, और यह शख़्स हिन्दू गुण्डा है ?'

'झूठ। मुसलमान है।'

'हरगिज़ नहीं। काफ़िर है।'

'वह ज़िन्दा क्यों है ?'

'तुम झूठे हो।'

'तुम नालायक़ हो।'

'कोई मर्द नहीं है, जो यहीं उसे करनी का मज़ा चखाए।'

पुलिस—'पीछे रहो, पीछे रहो।'

भीड़ बढ़ती ही चली गई। हिन्दू भी थे, मुसलमान भी। इसमें दो रायें न थीं कि यह शख़्स ज़िन्दा न बचने पाए। और, सबको

यह बुरा मालूम हो रहा था कि यह पुलिस कौन चीज़ है, जो सामने आकर उनके और उस बदमाश के बीच, यानी इन्साफ़ और जुर्म के बीच, हायल है।

रेल का पुल आते-आते तीन-चार हज़ार आदमी हो गये होंगे। जैसे समन्दर के बीच में बूँद-बूँद नहीं होती, वैसे ही भीड़ में आदमी आदमी नहीं रहता। भीड़ का अपने में एक अस्तित्व है, एक व्यक्तित्व है। वह अतर्क्य है।

'सीधे चलो, सीधे चलो !'

'कोतवाली ! कोतवाली !'

लड़की सहमी-सहमी चल रही थी। उसने ज़ोर से भगीरथजी का हाथ पकड़ रखा था, उसकी समझ में न आता था, यह क्या है। एक निश्शब्द त्रास उसके मन पर छा रहा था, और बाबाजी को बोध हो रहा था कि परिस्थिति साधारण नहीं रह गई है। लोगों की भीरुता और मूर्खता पर उन्हें बड़ी झुँझलाहट हो रही थी।

घुड़सवार ने आगे बढ़कर बाबा से पूछा—'तुम कहाँ जा रहे हो ?'

'आप देख तो रहे हैं, मैं जा रहा हूँ।'

'किस मुहल्ले में रहते हो ?'

'जिसमें रहता हूँ, वहीं जा रहा हूँ।'

'मैं घर जाऊँगी बाबाजी, घर।'

पुल के आगे उनका रास्ता मुड़ता था। मुड़ने लगे, तभी घुड़सवार ने उनके सामने आकर कहा—'सीधे चलना होगा।'

यह बाबा के लिए अप्रत्याशित था। पूछा—'कहाँ ?'

'कोतवाली।'

'क्यों ?'

'मैं कहता हूँ, इसलिए।'

'आप कहते हैं, इसलिए ? या भीड़ कहती है, इसलिए ?'

सवार ने उत्तर न दिया। वह लौट गया, और उसने समझ लिया, यह आदमी वैसा नहीं है जैसा खयाल है।

दोनों चुपचाप सीधे कोतवाली की तरफ बढ़ चले।

जुलूस पीछे-पीछे आ रहा था। बात अबतक दूर-दूर फैल गई थी। अब चौक से भी जुलूस को गुजरना हुआ। पाँच से दस, पन्द्रह, बीस हजार तक भीड़ पहुँच गई। टेलीफोन से पुलिस के कई दस्ते आ गये थे। पर भीड़ को शान्त रखना मुश्किल हो रहा था। शोर बेहद था, और उसमें अब पक्ष भी पड़ने लगे थे। मुसलिम-पक्ष और हिन्दू-पक्ष।

परिस्थिति भीषण होती जा रही थी, और लड़की के कारण बाबा जी को चिन्ता होने लगी थी। पर मालूम होता था, बात अब वश से बाहर हो गई है। क्या मेरी बात सुनने योग्य इस जन-स्थिति में होगा ?

'अरे यह लड़की तो दीनानाथ की है।'

'दीनानाथ ! हेडमास्टर दीनानाथ ?'

'ओह, दीनानाथ की।'

चुटकी बजाते बात फैल गई कि दीनानाथ की लड़की को एक मुसलमान गुण्डा उड़ाकर ले आया है। हिन्दू-पक्ष के क्रोध की सीमा न रही, और मुस्लिम-पक्ष का उत्साह तनिक मन्द हो गया। तब दो-एक मुसलमानों को सूझा कि पुलिस से कहें कि मामले की जाँच भी पहले की या नहीं।

दो-एक शरीफ़ मुसलमान उस समय पुलिस-इन्स्पेक्टर के पास गये। तभी बाबा जी ने इन्स्पेक्टर के पास पहुँचकर कहा—'आप

यह क्या ग़ज़ब कर रहे हैं। आप क्या चाहते हैं। आखिर इस बेचारी लड़की को तो बाप के पास जाने दीजिए। पता मैं बताता हूँ, सिपाही के साथ लड़की को घर भेज दीजिए। मैं आपके सामने ही हूँ।'

मुसलमान सज्जनों ने कहा—'जी हाँ, कोतवाल साहब, यह शरीफ़ आदमी मालूम होते हैं। पता तो लीजिए कि बात क्या है।'

पुलिस भीड़ में से उन्हें एक खाली दुकान की तरफ़ ले गई। वहाँ बाबा जी ने मकान का पता दिया। और, तय हुआ कि एक सिपाही वहाँ जाय, और मालूम करके आवे, तब तक दोनों यहीं रहें।

इस बीच बात आग की तरह फैलती रही। महावीर-दल, अर्जुन-सेना, भीम-सेना-संगठन, हिन्दू-रक्षा-सभा और अखाड़ा-बजरंगबली आदि सदल-बल मौके पर आ गये। इधर हुसैन-ग़ोल और रफ़ीक़ाने-इस्लाम तथा रज़ाकाराने-दीन भी चौकन्ने-चौकस हो गए।

इधर दीनानाथ जी चार मित्रों के साथ भोजन कर रहे थे। दीनानाथ जी की लड़की भगा ली गई है, यह इस सभा से उस सभा तक सब को मालूम हो गया था। दीनानाथ को ही बतलाने की, या उनसे पूछने की जरूरत किसी को नहीं हुई थी। वह निश्चिन्त, प्रसन्न भोजन कर रहे थे, तभी नौकर ने खबर दी—'बाबू जी, एक सिपाही आपको पूछ रहा है।'

'क्या चाहता है?'

'पूछता है, आपकी कोई लड़की है।'

'अबे, है, तो उससे उसे क्या है?'

'कहता है, ज़रूरी काम से दारोग़ा साहब ने फौरन आपको बुलाया है।'

'कह दो, मुझे फ़ुर्सत नहीं है।'

नौकर गया, और फिर लौटकर उसने खबर दी—

'जी, वह तो जाता ही नहीं। कहता है, आपकी लड़की वहाँ है और आपका वहाँ चलना बहुत ज़रूरी है।'

'होने दो लड़की वहाँ। मैं अभी नहीं जा सकता। और, वह आदमी अभी नहीं जाना चाहता, तो उसे खड़ा रहने दो वहीं।'

नौकर गया, और दोस्तों में फिर ठट्ठा होने लगा।

'देखो! यह पुलिस है! कोई गुलाम बैठा है कि फौरन हुक्म पर दौड़ा जाय!'

'आख़िर लड़की कहाँ है?'

'होती कहाँ? भागीरथ जी के साथ है। फिर उनके साथ कहीं भी हो, फिकर क्या है।'

उधर जनता में न्याय की भूख और हिंसा की प्यास खूब बढ़ रही थी। चौक में एक दुकान के भीतर बेंच पर भगीरथ जी बैठे थे, उनसे चिपटी-सिमटी सुखदा, कुर्सी पर इन्स्पेक्टर थे, आस-पास सिपाही। और चौक की चौड़ी सड़क एक फर्लांग तक नर-मुंडों से पटी थी। जो सिपाही भेजा गया था, उसके लौटने की प्रतीक्षा की जा रही थी। न्याय रुका हुआ था, जनता खाली थी, और उसका मद उत्तरोत्तर बढ़ रहा था। बात-चीत से दारोग़ा जी को मालूम हो गया था कि यह बाबा शरीफ आदमी हैं। लेकिन इस भूखी—मतवाली जनता के बीच में अब इस बाबा को आज़ाद छोड़ना जानवरों के बीच में छोड़ना है, फिर उसकी बोटी बाकी न बचेगी।

सिपाही ने आकर खबर दी कि मास्टर दीनानाथ ने उसे घर से बेइज्ज़त करके निकाल दिया है, और कुछ जवाब नहीं दिया।

इस पर तय हुआ कि दोनों को कोतवाली ले चलना होगा। लेकिन पैदल ले चलना खतरे से खाली न था, इससे ताँगा मँगवाया गया। ताँगा चला, और भीड़ भी चली।

'देखो! पुलिस को चकमा देता था।'

'अब जायगा कहाँ?'

'अब तो यहीं इसको बहिश्त दिखाई देगी।'

दारोगा ताँगे में आगे बैठे थे, लड़की के साथ बाबा पीछे। उस वक्त लड़के बाबा पर कंकड़ियाँ फेंक रहे थे, लोग बेंत चुभो रहे थे, कभी-कभी जूते भी पास आ गिरते थे, और लड़की बाबा की गोद में दुबकी जा रही थी।

ज्यों-त्यों दोनों कोतवाली के अन्दर ले जाए गए, और भीड़ बाहर तैनात हो गई।

* * *

शहर-भर में सनसनी फैल गई थी। दल-के-दल कोतवाली के सामने पहुँच रहे थे। कोई खाली हाथ न था। लाठी, डंडे, बल्लम, जिससे जो हुआ, साथ ले आया था। सबको खबर थी—'मास्टर दीनानाथ की लड़की उड़ाई गई, मास्टर दीनानाथ की!'

'अजी सोलह बरस की है। तुमने नहीं देखा? खूबसूरत, कि गज़ब की खूबसूरत!'

'अभी ब्याह नहीं हुआ।'

'और पढ़ाओ लड़कियों को। जभी तो ब्याह जल्दी करना चाहिए।'

'सगाई हो गई थी, ब्याह बैसाख में हो जाता।'

'अजी पहले से लाग-साख होगी। नहीं तो इतनी उमर की लड़की को कौन ले जा सकता है।'

इधर यह सब-कुछ था, उधर मास्टर दीनानाथ के कानों भनक न थी। उन्हें अचरज अवश्य था कि अभी तक सुखदा और भगीरथ जी घूम कर आए नहीं, पर सोच लेते थे, अब आते ही होंगे। चिन्ता की जरूरत हो सकती है, यह सम्भावना तक उनके पास न फटकती थी।

तभी पड़ौसी मनोहरलाल बाहर से ही चिल्लाते घर में दाखिल हुए—

'मास्टरजी, मास्टरजी, लड़की मिल गई।'

'क्या-आ ?'

'अजी, लड़की गायब हो गई थी न, वह मिल गयी। और, वह गुंडा भी पकड़ लिया गया है। लाइये मिठाई खिलाइए।'

'क्या कह रहे हैं आप !'

'मैं कहता हूँ, अब से आपको होशियार रहना चाहिए। मुसलमानों को आप जानते नहीं हैं। और बनिए कांग्रेसी ! आस्तीन के साँप हैं, साहब, आस्तीन के।'

दीनानाथ जी ने कुछ हँसना भी चाहा, लेकिन बाँह पकड़कर उतावली से पूछा—

'मनोहरलाल, कह क्या रहे हो ?'

'अजी, मैं वहीं से आ रहा हूँ। लखूखा आदमी हैं। उसकी बोटी भी बच जाय, तो मेरा नाम नहीं। साला....'

'कहाँ से ? कहाँ से ?'

'कहाँ से ? जनाब वहाँ से, जहाँ अब भी वह गुंडा मौजूद है. और लड़की भी है। आप लड़की को शादी क्यों नहीं कर देते ?'

'मनोहरलाल'—दोनों बाँहों से मनोहरलाल को झकझोर कर दीनानाथ ने पूछा—'कहाँ हैं वे लोग ?'

'कहाँ हैं ! क्यों, क्या अब भी कोतवाली में वह नहीं बैठा है। लेकिन मैं कहता हूँ, कुछ दम का और मेहमान है वह। फिर तो उसका बाल भी नहीं मिलेगा।'

दीनानाथ ने साइकिल सम्भाली, और भागे। भीड़ के पास पहुँचे, तो किसी ने उन्हें पहचान कर बधाइयाँ दीं—

'मास्टर जी, लड़की मिल गई।'

'यही मास्टर है ? इसी की लड़की है ? शर्म की बात है।'

'जगह दो, जगह।'

'लड़की की हिफ़ाज़त होती नहीं, पढ़ाने का शौक़ है। बुरा हो इस पढ़ाई का।'

भीड़ को चीरते हुए दीनानाथ कोतवाली में दाख़िल हुए। लड़की के बाप के आने की बात पर भीड़ में नशे की एक और लहर आ गई। अन्दर दारोग़ा साहब ने कहा—'आइए, मास्टर साहब, आइए।'

'यह आप क्या ग़ज़ब कर रहे हैं। वह कहाँ हैं ?'

उस कमरे में पहुँचे, तो लड़की इनसे चिपट गई।

दारोग़ा ने पूछा—'यह आपकी लड़की है ?'

'जी हाँ, साहब ! और यह मेरे दोस्त बाबा भगीरथजी हैं।'

'ओ हो ! माफ़ कीजिए। इनको बड़ी तकलीफ़ उठानी पड़ी।'

'लेकिन जनाब, आपने भी तो ग़ज़ब किया। देखिए न, कितना हजूम जमा है।'

विचार होने लगा कि इस भीड़ में से कैसे बाबा जी को ले

जाना होगा। आखिर, सोचा गया कि मास्टर जी साथ रहेंगे, तब ज्यादा ख़तरा नहीं है।

पुलिस की मदद से ताँगे में सवार हुए, और मास्टरजी बराबर साइकिल लेकर चले।

'मास्टरजी, यही गुंडा है ?'

'अरे, मास्टर की लड़की भगानेवाला यही है।'

'साला, जाने न पावे।'

मास्टर ने चिल्लाया—'अरे, क्या ग़ज़ब करते हो !'

लेकिन साहसी व्यक्तियों ने बढ़-बढ़ कर भगीरथजी के धौल-धप्पे जमाने शुरू कर दिये।

ताँगा दौड़ा। पत्थर फिके। दीनानाथ साइकिल दौड़ाते जा रहे थे।

भीड़ एकाएक कुछ स्तब्ध रह गई थी, और ताँगा इतने में निकल गया। यही कुशल हुई।

लेकिन रास्ते में स्वयंसेवकों के दल अभी चले ही आ रहे थे।

देखा, मास्टर दीनानाथ ताँगे के बराबर साइकिल पर जा रहे हैं, और ताँगे पर लड़की के साथ एक मुसलमान-सा बैठा है।

'मास्टरजी, यही है ?'—और दे डंडा !

'मास्टरजी की लड़की यही तो है जी !'—और पाँच-सात आदमी दौड़े ताँगे की तरफ़ लाठियाँ उठाए। कुछ ताँगे की छत पर पड़ीं, एक-आध बाबा पर भी। पत्थर भी ख़ासे बाबा को लगे। पर ज्यों-त्यों, आखिर ताँगा घर पहुँच ही गया।

* * *

लेकिन बाबा जी ने न अपना जाँघिया बदला, न भलेमानसों की तरह कुर्ता-क़मीज़ कुछ पहनना शुरू किया।

'ओ हो ! बाबाजी, आप थे ! मैं मोटर पर जा रहा था, भीड़ मैंने भी देखी थी। क्या पता था, वहाँ आप घिरे थे ! आप भी खूब हैं।'

'भीड़ तो हमने भी देखी थी। लेकिन बाबाजी, आप ठीक तरह क्यों नहीं रहते ?'

बाबाजी को इससे कुछ भी सुख या दुःख नहीं जान पड़ता कि वह मौत से बच गये। वह हँस देते हैं, और बाबा छोड़कर कुछ और बनना नहीं चाहते।